अज्ञेय के कथेतर गद्य साहित्य का आलोचनात्मक विश्लेषण

Agyey Ke Kathetar Gadya Sahitya Ka Aalochnatamak Vishleshan

(Critical Analysis of Nonfiction Prose Literature of Agyey)

पीएच.डी की उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध प्रबंध

शोध निर्देशक
प्रो. देवेन्द्र कुमार चौबे

शोधार्थी
पूनम कुमारी साव

भारतीय भाषा केंद्र
भाषा, साहित्य और संस्कृति अध्ययन संस्थान
जवाहरलाल नेहरु विश्वविद्यालय
नई दिल्ली – 110067

2017

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY
भारतीय भाषा केन्द्र
Centre of Indian Languages
भाषा, साहित्य एवं संस्कृति अध्ययन संस्थान
School of Language, Literature & Culture Studies
नई दिल्ली–110067, भारत NEW DELHI-110067, INDIA

Dated:21/07/2017

DECLARATION

I hereby declare that the research work done in this Ph.D Thesis entitled "**Agyey Ke Kathetar Gadya Sahitya Ka Aalochnatamak Vishleshan (Critical Analysis of Nonfiction Prose Literature of Agyey)** by me is the original research work and it has not been previously submitted for any other degree in this or any other University/Institution.

Punam Kumari Shaw

Punam Kumari Shaw
(Research Scholar)

PROF. DEVENDRA KUMAR CHOUBEY
(Supervisor)
CIL/SLL&CS/JNU

PROF. GOBIND PRASAD
(CHAIRPERSON)
CIL/SLL&CS/JNU

GRAM: JAYENU, Tel.: (91-011) 26741557, 26742676 Extn.: 4217, (D) 26704217; Telefax: (91-011) 26704217
Email: chair_cil@mail.jnu.ac.in, jnucil@gmail.com

अनुक्रमणिका

भूमिका **(i-vii)**

प्रथम अध्याय **(1-23)**

कथा साहित्य तथा कथेतर साहित्य में अंतर्संबंध

1.1 प्रस्तावना

1.2 कथा साहित्य

1.2.1 कहानी के स्वरूप तथा विकास

1.2.2 उपन्यास के स्वरूप तथा विकास

1.3 कथेतर साहित्य

1.3.1 निबंध, संस्मरण, यात्रावृतांत, डायरी, आत्मकथा का संक्षिप्त परिचय

1.4 अज्ञेय के कथा साहित्य तथा कथेतर साहित्य का अंतर्संबंध

द्वितीय अध्याय **(24-79)**

अज्ञेय के निबंध साहित्य का आलोचनात्मक अध्ययन

2.1 प्रस्तावना

2.2 हिंदी निबंध: स्वरूप एव विकास

2.3 अज्ञेय के निबंध का तात्त्विक विवेचन

2.3.1 वैचारिक निबंध

2.3.2 ललित निबंध एवं आत्मपरक निबंध

तृतीय अध्याय (80-125)

अज्ञेय के यात्रा-संस्मरण: एक विश्लेषण

3.1 प्रस्तावना

3.2 **हिन्दी के यात्रा साहित्य: स्वरूप एवं विकास**

3.3 **अज्ञेय के यात्रा-संस्मरण के वर्ण्य-विषय**

3.3.1 'अरे यायावर,रहेगा याद?'

3.3.2 'एक बूँद सहसा उछली'

चतुर्थ अध्याय (126-173)

भवन्ती, अंतरा और शाश्वती का वैचारिक अध्ययन

4.1 प्रस्तावना

4.2 **डायरी विधा तथा अन्तः प्रक्रिया के स्वरूप**

4.2.1 डायरी का स्वरूप

4.2.2 अन्तःप्रक्रिया का स्वरूप

4.2.3 डायरी एवं अन्तः प्रक्रिया में अंतर

4.2.4 भवंती, अंतरा तथा शाश्वती का विधागत स्वरूप

4.3 **अज्ञेय के अन्तः प्रक्रियाएं**

4.3.1 भवंती

4.3.2 अंतरा

4.3.3 शाश्वती

पंचम अध्याय (174-216)

'स्मृति-लेखा': एक आलोचनात्मक अध्ययन

5.1 प्रस्तावना

5.2 संस्मरण का स्वरूप

5.3 संस्मरण एवं अन्य कथेतर गद्य विधाओं में अंतर्संबंध

5.3.1 'स्मृति लेखा' का स्वरूप

5.4 संस्मरण की परंपरा

5.5 स्मृति लेखा' का आलोचनात्मक अध्यन

उपसंहार (217-221)

संदर्भ-ग्रंथ सूची (222-225)

भूमिका

साहित्य रचना के क्षेत्र में अज्ञेय की प्रतिभा बहुआयामी रही है। उनके संवेदनशील चिन्तन, अनुभव, समृद्ध और कलात्मक बोध से युक्त लेखनी ने जिस भी विधा में सृजन किया, वह अपनी एक विशिष्ट पहचान बनाती है| भले ही अज्ञेय कवि, उपन्यासकार, कहानीकार के रूप में परिचित हैं, पर इनकी प्रतिभा का निदर्शन समान रूप से उनके कथेतर गद्य साहित्य अर्थात् निबन्ध, आलोचना, विचार, संस्मरण, यात्रावृतान्त, पत्र-पत्रकारिता, रेडियो वार्ता में भी हुआ है। अज्ञेय ने इन विधाओं के स्तर को उठाकार उसे हिन्दी साहित्य में अन्य विधाओं जैसे कविता, कहानी, उपन्यास की तरह विशिष्ट स्थान प्रदान किया है। अज्ञेय ने हिन्दी के निबंध शैली को तमाम रूढ़ियों से मुक्त करके उसे नया चेहरा प्रदान किया है। उन्होंने अपने निबंध में सभी महत्वपूर्ण चिंताओं, चुनौतियों, विसंगतियों पर पूरी विवेक से विचार किया है। उनके यात्रा-साहित्य में उनकी यायावरी वृति की झलक है। उनके विचारों व दृष्टिकोणों के निर्माण मे उनके यात्रा-वृतांत का काफी योगदान रहा है। तो वहीं उनके संस्मरण,पत्र-पत्रिकाओं, अन्तःप्रक्रियाओं आदि का भी हिन्दी साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान है।

अज्ञेय के काव्य, उपन्यास, कहानी पर तो बहुत शोध कार्य हुए परन्तु उनके कथेतर साहित्य का एकत्र मूल्यांकन या अनुशीलन अभी तक प्रायः नहीं हुआ है| इस कारण उनकी सर्जना और चिन्तना का एक महत्वपूर्ण पक्ष अभी तक अनुद्घाटित रह गया है| इस पक्ष की विशेषताओं का विश्लेषण और मूल्यांकन करना हमारा अभीष्ट है और यही कारण है कि मैंने यह विषय चुना|

इस विषय के चयन का एक कारण यह भी है कि मेरी एम.फिल अज्ञेय के यात्रा-संस्मरणों पर थी, जिसके कारण मैंने उस दौरान अज्ञेय के अन्य गद्य विधाओं को पढ़ा, जो मुझे बहुत पसंद आई| हालाँकि उनके कथा साहित्य तथा कविताओं से परिचय बहुत पहले हो चूका था, पर उनके कथेतर साहित्य को मैंने अपने एम.फिल के दौरान ही पढ़ा और समझा| एम. फिल के दौरान ही मुझे लगा कि उनके कथेतर साहित्य पर शोध किया जाना चाहिए, क्योंकि उनके निबंधों, अन्तःप्रक्रियाओं, संस्मरणों आदि में निहित विचारों का उद्घाटन होना एक ओर समय की मांग थी तो वहीं दूसरी ओर शोध की| फिर गुरुवर रामबक्ष जी के सहयोग से मेरा यह विषय तय हुआ| मेरे शोध प्रबंध का विषय है-'अज्ञेय के कथेतर गद्य साहित्य का आलोचनात्मक विश्लेषण'

मैंने अपने शोध-प्रबंध को निम्नलिखित पांच अध्यायों में किया है| अध्ययन की सुचारू सुविधा हेतु उसका संक्षिप्त विवरण आवश्यक है, जो इस प्रकार है-

प्रथम अध्याय : कथा साहित्य एवं कथेतर साहित्य में अंतर्संबंध

द्वितीय अध्याय : अज्ञेय के निबंध साहित्य का आलोचनात्मक अध्ययन

तृतीय अध्याय : अज्ञेय के यात्रा-संस्मरण: एक विश्लेषण

चतुर्थ अध्याय : 'भवन्ती', 'अंतरा' और 'शाश्वती' का वैचारिक अध्ययन

पंचम अध्याय : 'स्मृति – लेखा' : एक आलोचनात्मक अध्ययन

-उपसंहार

प्रथम अध्याय **'कथा साहित्य एवं कथेतर साहित्य में अंतर्संबंध'** में कथा तथा कथेतर साहित्य के स्वरूप एवं विकास का संक्षिप्त परिचय देते हुए अज्ञेय के दोनों गद्य विधाओं के अंतर्संबंध पर प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है| अज्ञेय के कथा एवं कथेतर साहित्यों में अभिव्यक्त विषय वस्तु और अज्ञेय के व्यक्तित्व, विचारधाराओं, दृष्टिकोणों में अंतर्संबंधों पर संक्षिप्त विचार किया गया है| इस अध्याय में उपन्यास तथा कहानी की परंपरा पर विस्तृत रूप से विचार न करके अज्ञेय के पूर्व उपन्यास तथा कहानी की क्या परम्परा रही है, पर प्रकाश डाला गया है| साथ ही निबंध, संस्मरण, यात्रा-वृतांत अन्तः प्रक्रियाओं के स्वरूप पर विचार करते हुए उपन्यास और कहानी से यह कैसे भिन्न या समान है, पर व्याख्या की गयी है|

द्वितीय अध्याय **'अज्ञेय के निबंध साहित्य का आलोचनात्मक अध्ययन'** में निबंध के स्वरूप, अज्ञेय से पूर्व निबंध की परंपरा पर चर्चा करते हुए अज्ञेय के सारे निबंधों का आलोचनात्मक अध्ययन किया गया है। साथ ही आलोच्य 'अज्ञेय ' की निबंध विषयक अवधारणा और इनकी इस विधा मे सृजन शक्ति की सम्पूर्ण रूपरेखा को उजागर करते हुए निबंधकार के रूप मे उनके व्यक्तित्व वैशिष्ट्य को प्रकाश में लाने की चेष्टा की गई है। प्रत्येक निबंध संग्रह के कथ्य, रूप, भाषा एवं शिल्प को केंद्र में रखते हुए 'अज्ञेय' की निबंध यात्रा के विभन्न पहलुओं का यथाक्रम विवरण दिया गया है। विषय-वस्तु के संदर्भ में अज्ञेय के सांस्कृतिक अन्वेषण, परंपरा की पहचान और परख, व्यैक्तिक–स्वातंत्र्य एवं स्वाधीनता, मानवीय अस्मिता, काल की अवधारणा तथा प्रतीक एवं मिथक संबंधी परिकल्पनाओं को उजागर किया गया है। इस अध्याय में लेखक का व्यक्तिगत पक्ष भी उजागर हुआ है, जिसे विभिन्न दृष्टिकोण से देखने का प्रयास किया गया है| लेखक ने अपने निबंधों में साहित्य संबंधी मान्यताओं के साथ अपनी कृतियों का भी विश्लेषण किया है, जिस पर अनेक कोणों से विचार किया गया है| इसमें 'अज्ञेय' के निबंधों में व्याप्त विषय-विस्तार को समेकित

करने की चेष्टा की गयी है और साथ ही उजागर किया गया है कि अज्ञेय शाश्वत मूल्यों पर विचार करते हुए समकालीनता एवं परंपरा की उपेक्षा नहीं करते, बल्कि इन दोनों को एक साथ मूल्य चिंता से जोड़ते हैं|

तृतीय अध्याय **'यात्रा-संस्मरण: एक विश्लेषण'** में अज्ञेय के दोनों यात्रावृतांन्तों 'अरे यायावर, रहेगा याद!' और 'एक बूंद सहसा उछली' की विषय वस्तु की विवेचना करते हुए इस कृति में वर्णित स्थान विशेष के भौगोलिक, एतिहासिक, राजनैतिक, सामाजिक परिस्थितियों के साथ सांस्कृतिक, धार्मिक, दार्शनिक, मानवतावादी पक्षों पर लेखक की क्या प्रतिक्रिया रही हैं या किस दृष्टि से इन पक्षों को देखते हैं इस पर विचार किया गया है। चूंकि यात्रावृतांत होने के कारण कृति में आत्मीयता का समावेश अपेक्षित हैं, अतः अज्ञेय के व्यक्तित्व को भी उजागर किया गया है| साथ ही यात्रा-संस्मरण के स्वरूप के साथ अज्ञेय से पूर्व हिंदी साहित्य के यात्रा-संस्मरण की परम्परा पर दृष्टि डाली गयी है| 'एक बूँद सहसा उछली' में लेखक के तुलनात्मक एवं पर्यवेक्षी दृष्टिकोण को उजागर करते हुए लेखक के भारतीय और पाश्चात्य सम्बन्धी मूल्य, दर्शन, संस्कृति, जीवन शैली, राजनीतिक-सामाजिक सम्बन्धी विचारों को उद्घाटित करने की कोशिश की जाएगी|

चतुर्थ अध्याय **'भवन्ती, अंतरा और शाश्वती का वैचारिक अध्ययन'** में इन तीनों रचनाओं के विषय-वस्तु का विश्लेषण करते हुए उसमें अभिव्यक्त अज्ञेय के धार्मिक, सांस्कृतिक, राजनीति, शैक्षणिक, भाषा, काल, जीवन एवं मृत्यु, इतिहास, मिथक एवं प्रतीक संबंधी वैचारिक दृष्टिकोण का उल्लेख किया गया है। चूंकि ये रचना 'डायरी' विधा के काफी नजदीक है, इसलिए डायरी तथा अन्तःप्रक्रिया के स्वरूप पर विवेचन करते हुए उनके अंतर्संबंधों पर विचार किया गया है| प्रस्तुत अन्तःप्रक्रियाओं में लेखक का आलोचक, कवि गुण भी उभरा है, इस पक्ष का भी उद्घाटन प्रस्तावित

अध्याय में किया गया है| इसके अतिरिक्त अज्ञेय के साहित्य संबंधी मान्यताओं पर विचार किया गया है| अज्ञेय ने अपने इन अन्तःप्रक्रियाओं को 'रचना यात्रा की लॉग बुक' कहा है, उनके शब्दों में-''भवन्ती में उस यात्रा की लॉगबुक है जिसमें जब तक दिक्काल की माप की टीप लिखी जाती रही है । जिसके आधार पर यात्रा के पथ-चिह्न अनुकूल और प्रतिकूल स्थितियाँ तथा धाराएं, जोखिम, भटकन, प्रत्युपन्न, सूझ आदि का ब्यौरा मिलता रहा .....|" यह अन्तःप्रक्रिया किस प्रकार लेखक की रचना यात्रा को लेखा-जोखा है, इस पक्ष पर भी ध्यान केन्द्रित किया है|

पंचम अध्याय **"'स्मृति – लेखा' : एक आलोचनात्मक अध्ययन"** में 'स्मृति-लेखा' के विषय-वस्तु का विवेचन करते हुए संस्मरण विधा कैसे रेखाचित्र, डायरी, आत्मकथा, जीवनी, निबंध, आलोचना से भिन्न है, इस पर विचार किया गया है| साथ ही 'स्मृति-लेखा' के विधागत स्वरूप का विश्लेषण करते हुए यह संस्मरण को आलोचनात्मक संस्मरण के कैसे निकट है, इस पर भी विचार किया गया है| साथ ही इस अध्याय में विषय और विषयी अर्थात लेखक एवं वर्णित पात्र के मनोभाव कहाँ तक रूपायित हुए है इस पर भी प्रकाश डाला गया है। संस्मरण की स्वरूप पर विचार करते हुए उसकी परंपरा पर भी विचार किया गया है| प्रस्तुत संस्मरण संग्रह में 12 संस्मरण हैं जो सरोजिनी नायडू, मैथिलीशरणगुप्त, रायकृष्णदास, प्रेमचंद, सूर्यकान्त त्रिपाठी, निराला सुमित्रानंदन पंत, होमवती देवी, माखनलाल चतुर्वेदी, फणीश्वरनाथ 'रेणु', रामधारी सिंह दिनकर, हजारीप्रसाद द्विवेदी, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' से संबंधित हैं| इन स्मरणीय व्यक्तियों के व्यक्तित्व के साथ-साथ कृतित्व के उजागर में लेखक कहाँ तक सफल हो पाए हैं, इसका आलोचनात्मक विश्लेषण इस अध्याय में किया गया है|

निर्विवाद रूप से यह नहीं कहा जा सकता की प्रस्तुत अध्ययन सर्वांगीण हैं क्योंकि अपने विचारों को प्रकट करने में मौलिकता के साथ अनेक विद्वानों के अभिमत का भी आश्रय लिया गया है जिनके प्रति मैं कृतज्ञ हूँ|

और अंत में इन अध्यायों में संकलित अध्ययन का सारसंक्षेप 'उपसंहार' शीर्षक रूप में प्रस्तुत किया गया है, जिसमें कतिपय स्थापनाएं भी हो सकती हैं, किन्तु उन स्थापनाओं के प्रति मेरे मन में दावा का भाव या पूर्वाग्रह नहीं है|

नि:संदेह यह कार्य मुझ अकेले से संभव नहीं था, अगर मेरे शोध निर्देशक प्रो. देवेन्द्र चौबे एवं गुरुवर प्रो.रामबक्ष का आशीर्वाद और स्नेह भरा एवं पांडित्यपूर्ण मार्गदर्शन मेरे साथ न होता| विषय के चयन से लेकर उससे जुड़ी समस्यायों के समाधान तक उनका सहयोग मिला| उनका मार्गदर्शन मुझे केवल शोधकार्य में ही नहीं, जीवन के अनेक चुनौतीपूर्ण परिस्थितयों में भी निरंतर मिलता रहा है| जिन्दगी के उतार-चढ़ाव में इस शोध कार्य को कर पाना काफी कठिन था| परन्तु गुरुवर प्रो.रामबक्ष जी के सतत् प्रेरणा से यह शोध कार्य संभव हो पाया है| प्रस्तुत शोध-प्रबंध उनके सुयोग्य मार्गदर्शन का ही फल है| उनके इस अनुग्रह से ऋण मुक्त होना मेरे लिए असंभव है| जीवन में उनका सदा स्नेह बना रहे यही उम्मीद है|

प्रस्तुत शोध कार्य में कई पुस्तकालयों से भी सहयोग मिला जिनमें प्रमुख रूप से जवाहरलाल नेहरू विश्विद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, कोलकाता की लाइब्रेरी की विशेष आभारी हूँ| साथ ही उन सभी विद्वानों के प्रति अपना आभार व्यक्त करती हूँ|

अपना यह शोध कार्य मैं अपने माता-पिता को समर्पित करती हूँ, जिन्होंने दूर रहते हुए भी इस शोध कार्य के दौरान पर मेरे मनोबल को निरंतर बनाए रखा एवं प्रेरित किया, जिसके बिना यह शोध कार्य संभव न था| साथ ही अपनी छोटी बहन

सुमन एवं अपने सहकर्मी बंधुओं में तेंजिन मेहरू, रिंकू शर्मा, लीला विष्णुप्रिया और बंधुओं में मानसा, उषा, राजकुमार, रीता दुबे, छाया का स्नेहिल भाव मेरे जीवन की उपलब्धि है, जिनसे सतत् प्रेरणा और उत्साह मिलते रहें|

अन्ततोगत्वा मैं अपने मित्र रूपी पति शशि का सबसे अधिक आभार प्रकट करती हूँ, जिन्होंने मेरे शोध कार्य के दौरान आने वाले समस्त कठीन परिस्थितियों में मेरा साथ दिया और सहयोग देकर मेरे इस कठिन मार्ग को सुगम बनाया|

पूनम कुमारी साव

प्रथम अध्याय

कथा साहित्य तथा कथेतर साहित्य में अंतर्संबंध

1.1 प्रस्तावना

1.2 कथा साहित्य

1.2.1 कहानी के स्वरूप तथा विकास

1.2.2 उपन्यास के स्वरूप तथा विकास

1.3 कथेतर साहित्य

1.3.1 निबंध, संस्मरण, यात्रावृतांत, डायरी, आत्मकथा का संक्षिप्त परिचय

1.4 अज्ञेय के कथा साहित्य तथा कथेतर साहित्य का अंतर्संबंध

प्रथम अध्याय

कथा साहित्य तथा कथेतर साहित्य का अंतर्संबंध

1.1 प्रस्तावना

हिंदी गद्य साहित्य का विकास आधुनिक युग में हुआ| हिंदी गद्य साहित्य को दो भागों में विभाजित किया जाता है, पहला कथा साहित्य एवं दूसरा कथेतर साहित्य| कथा साहित्य के अंतर्गत कहानी, उपन्यास, नाटक,एकांकी आदि विधाएं प्रमुख हैं| कथेतर गद्य साहित्य के अंतर्गत निबंध, संस्मरण, रेखाचित्र, डायरी, जर्नल, आलोचना, यात्रावृतांत अदि विधाएं प्रमुख हैं| प्रस्तुत अध्याय में कथा साहित्य तथा कथेतर साहित्य के स्वरूप एवं विकास का संक्षिप्त परिचय देते हुए अज्ञेय के दोनों गद्य विधाओं के अंतर्संबंध पर प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है|

1.2 कथा साहित्य

हिंदी कथा साहित्य में उपन्यास और कहानी दोनों ही विधाएं प्रमुख हैं। प्रायः उपन्यास और कहानी के तत्त्व निर्धारण में विद्वानों ने एक ही पद्धति अपनाई है और छह तत्त्व निर्धारित किए हैं- कथावस्तु, पात्र अथवा चरित्र-चित्रण, कथोपकथन अथवा संवाद, देशकाल अथवा वातावरण, भाषा-शैली तथा उद्देश्य | परन्तु वास्तव में कहानी और उपन्यास दो स्वतंत्र विधाएँ हैं। निस्संदेह दोनों ही गद्य-विधाएँ हैं और दोनों के शिल्पगत उपकरण भी समान हैं, किन्तु दोनों के आकार, मूल, संवेदना, रचना-प्रक्रिया आदि में पर्याप्त अंतर है। दोनों गद्य विधाओं की अपनी विशेषता है जो दोनों को एक दूसरे से पृथक करती हैं। कहानी में किसी व्यक्ति विशेष के जीवन के विशेष क्षणों व अंशों का चित्रण होता है जबकि उपन्यास में किसी व्यक्ति विशेष के सम्पूर्ण जीवन का वर्णन होता है| यह दोनों ही विधाएं कल्पना पर आधारित होती है| यहाँ लेखक को कलात्मक सृजन के अनेक अवसर मिलते हैं|

1.2.1 कहानी का स्वरूप एवं विकास

उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ में हिंदी साहित्य के गद्य में एक नई विधा का विकास हुआ जिसे कहानी के नाम से अभिहित किया गया| बंगला में इसे 'गल्प' कहा जाता है। प्रारम्भ में यह 'आख्यायिका' के नाम से भी जाना जाता था| इस सम्बन्ध में गोपाल राय कहते हैं- "संस्कृत साहित्य में 'कहानी' का एक अति प्राचीन पर्याय 'कथा' है, जिसके किंचित् अर्थान्तारों के साथ, 'आख्यान', 'उपाख्यान', 'आख्यायिका', 'वृत्त', 'इतिवृत्त', 'गाथा', 'इतिहास', 'पुराण', 'वार्त्ता', 'चरित' आदि रूप प्रचलित हैं| 'कथा' शब्द ही अपभ्रंश में 'कहा' का रूप ग्रहण कर अवधी, भोजपुरी आदि भाषाओं में 'कहनी', 'कहानी' आदि पदों में बदल गया है| उन्नीसवीं सदी के धुर आरम्भ में इंशा अल्ला खां ने अपनी रोमानी गद्यकथा 'उदयभान चरित' को 'रानी केतकी की कहनी' और 'सदल मिश्र ने अपनी पौराणिक गद्यकथा को 'नासिकेतोपाख्यान' कहा था| उन्नीसवीं शताब्दी के पहले तीन चरणों में मुद्रित हिन्दी कथाओं के लिए 'कहानी', 'उपाख्यान', 'वृतांत', आदि पद प्रचलित थे| 'किस्सा', 'दास्तान', और 'अफ़साना', शब्द भी अरबी-फारसी से आकर हिन्दी-उर्दू में प्रयुक्त होने लगे थे| इसी समय बंगला की तरफ से एक पद आया 'उपन्यास', जिसे बालकृषण भट्ट, देवकीनन्दन खत्री और किशोरीलाल गोस्वामी ने 'नए' प्रकार की लम्बी कथा के पर्याय के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया|"[1]

हिंदी कहानी का विकास अंग्रेजी तथा बंगला कहानियों के प्रभाव में हुआ। वैसे तो मनुष्य के जन्म के साथ ही कहानी का भी जन्म हुआ और कहानी कहना तथा सुनना मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृति रही है| कहानी अपने जन्म से ही एक ऐसी सशक्त माध्यम रही है जो व्यक्ति को व्यक्ति से जोड़ती है| व्यक्ति अपने मनोभावों को प्रकट करने के लिए, दूसरों तक पहुंचाने के लिए उत्सुक रहता है| भाषा के आभाव में सर्वप्रथम मनुष्य संकेतों, चित्रों, शब्दों के माध्यम से अपने अनुभवों की अभिव्यक्ति करता था| शनैः शनैः घटनाओं और अनुभवों को रोचक बनाने हेतु उन्हें किस्से के रूप

[1] गोपाल राय, *हिंदी कहानी का इतिहास,* राजकमल प्रकाशन,नई दिल्ली, 2011, पृ-17

में प्रस्तुत किया| अतः घटना और अनुभव की अभिव्यक्ति ने ही कहानी का रूप लिया| इसके पश्चात अनुभवों को अभिव्यकि में कल्पना, व्यवहार का समावेश हुआ, क्रमश: वस्तु विकास में घटना, अनुभव, कल्पना और मनोरंजन के साथ-साथ मनुष्य जीवन से जुड़ने वाले सामाजिक राजनैतिक, आर्थिक, धार्मिक आदि अनेक तत्त्व कहानी को व्यवस्थित करने में सहायक हुए| बाद में कहानियों में निम्नलिखित तत्त्व महत्वपूर्ण माने गए हैं-कथावस्तु, पात्र अथवा चरित्र-चित्रण, कथोपकथन अथवा संवाद, देशकाल अथवा वातावरण, भाषा-शैली तथा उद्देश्य। कहानी के ढाँचे को कथानक कहा जाता है। प्रत्येक कहानी के लिए कथावस्तु अर्थात विषय का होना अनिवार्य है क्योंकि इसके अभाव में कहानी की रचना की कल्पना भी नहीं की जा सकती। कहानी का संचालन उसके पात्रों के द्वारा ही होता है तथा पात्रों के माध्यम से घटना-प्रसंगों की व्याख्या की जाती है तथा साथ ही घटना प्रसंगों के माध्यम से पात्रों के गुण-दोष का निरूपण कर उनका 'चरित्र-चित्रण' भी किया जाता है| चरित्र-चित्रण से विभिन्न चरित्रों में स्वाभाविकता उत्पन्न की जाती है। संवाद कहानी का प्रमुख अंग होता है। इनके द्वारा पात्रों के मानसिक अन्तर्द्वन्द एवं अन्य मनोभावों को प्रकट किया जाता है। कहानी में वास्तविकता का पुट देने के लिए देशकाल अथवा वातावरण का प्रयोग किया जाता है। प्रस्तुतीकरण के ढंग में कलात्मकता लाने के लिए उसे अलग-अलग भाषा व शैली से सजाया जाता है। कहानी में केवल मनोरंजन ही नहीं होता, अपितु उसका एक निश्चित उद्देश्य भी होता है।

हमारे देश में कहानियों की बड़ी लंबी और सम्पन्न परंपरा रही है। वेदों, उपनिषदों तथा ब्राह्मणों में वर्णित 'यम-यमी', 'पुरुरवा उर्वशी', 'गंगावातरण', 'श्रृंग', 'नहुष', 'ययाति', 'शंकुतला', 'नल-दमयंती' जैसे आख्यान कहानी के ही प्रारम्भिक रूप हैं| प्राचीनकाल में सदियों तक प्रचलित वीरों तथा राजाओं के शौर्य, प्रेम, न्याय, ज्ञान, वैराग्य, साहस, समुद्री यात्रा, अगम्य पर्वतीय प्रदेशों में प्राणियों का अस्तित्व आदि

की कथाएँ, जिनकी कथानक घटना प्रधान हुआ करती थीं, भी कहानी के ही रूप हैं। उपनिषदों में जनुश्रुति पौत्रायण तथा सत्यकाम जाबाल की कथाएं संवाद रूप में मिलती हैं| आगे चलकर 'रामायण', 'महाभारत' आदि बृहत कथाएं लिखी गई, जिनके अन्दर अनेक कथाएं समाविष्ट हैं| इसी क्रम में और भी अनेक बृहत कथाएं लिखी गई जिनमें 'दशकुमारचरित', 'कादम्बरी', 'वासवदत्ता' 'तिलक मंजरी' आदि उल्लेखनीय है|

साहित्य के सामान लोक जीवन में भी कहानियों की विपुल संपत्ति मौखिक परंपरा के रूप में सुरक्षित रहती है| लोक जीवन में प्रचलित ये कहानियां प्रमुख रूप से प्रेम, उपदेश, हास्य एवं व्यंग्य तथा ऐतिहासिक तथ्यों से संबंधित रही हैं| हिंदी का कहानी साहित्य भी इसके प्रभाव से मुक्त नहीं रहा है| इस संदर्भ में डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल लिखते हैं –"इसी उदगम सूत्र से हिंदी कहानियों की उत्पत्ति को सबसे अधिक प्रेरणा मिली और उस समय प्रायः समस्त हिंदी कहानीकारों की पहली मौलिक रचनाएं इन्हीं लोक कहानियों की प्रतिमाएं थीं| उदाहरण- स्वरूप, पहले हम 'सरस्वती' की आरंभिक कहानियों को लेते हैं| लाला पार्वतीनंदन की कहानियां 'प्रेम का फुआरा', 'भूतों वाली हवेली', 'जीवनाग्नि', 'नरक', 'गुलज़ार' आदि स्पष्ट रूप से इन्हीं लोक कहानियों की प्रेरणा-शक्ति से लिखी गयी है|"[1]

मध्ययुग में कहानी का एक और रूप मिलता है, जो वार्ता, वृतांत, किस्सा, स्वप्न आदि नामों से लिखा गया| 'चौरासी वैष्णवों की वार्ता' , 'दो सौ बावन वैष्णव की वार्ता', धार्मिक कथाएं हैं जो किसी अन्य व्यक्ति के माध्यम से कथा वार्ता के रूप में सुनाई गई हैं| यह परंपरा द्विवेदी युग तक चलती रही| 'बीरबल का इतिहास' 'किस्सा गुलाबकावली', 'हातिम ताई का किस्सा', 'शिरी फरहाद' इसी कथा शिल्प की कहानियां हैं| इसी कड़ी में लल्लू लाल द्वारा अनुदित 'सिंहासन्बत्तीसी', 'बैताल पचीसी', इंशा अल्ला खां की 'रानी केतकी की कहानी', 'उदयभानु चरित', सदल

[1] लक्ष्मीनारायण लाल, *हिंदी कहानियों की शिल्प-विधि का विकास*, साहित्य भवन, इलाहाबाद, 1960, पृ.304

मिश्र की 'नासिकेतोपाख्यान', राजा शिव प्रसाद सितारे हिन्द की 'राजा भोज का सपना', भारतेंदु की 'कुछ आप बीती कुछ जग बीती', 'एक अद्‌भुत अपूर्व स्वप्न', 'हमीर हठ', मुंशी शादी लाल की 'किस्सा शाहरूप' आदि कहानियां उल्लेखनीय है|

सन् 1910 से 1960 के बीच हिन्दी कहानी का विकास जितनी तीव्र गति के साथ हुआ, उतनी गति से किसी अन्य साहित्यिक विधा का विकास नहीं हुआ था। सन् 1900 से 1915 तक हिन्दी कहानी के विकास का प्रारम्भिक दौर था। प्रारम्भिक दौर में माधव प्रसाद मिश्र की 'मन की चंचलता', किशोरीलाल गोस्वामी की 'गुलबहार', गिरिजदत्त बाजपेयी की 'पंडित और पंडितानी', रामचन्द्र शुक्ल की 'ग्यारह वर्ष का समय', बंगमहिला की दुलाईवाली, विद्यानाथ शर्मा की 'विद्या बहार, वृन्दावनलाल वर्मा की राखीबंद भाई, जयशंकर प्रसाद की 'ग्राम' एवं 'रसिया बालम', चन्द्रधर शर्मा की 'सुखमय जीवन' तथा 'उसने कहा था', विश्वम्भरनाथ जिज्जा की 'परदेसी', राजराधिकारमण प्रसाद सिंह की 'कानों में कंगना', विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' की 'रक्षा बंधन' आदि कहानी प्रमुख रहे हैं। इन कहानियों में सामाजिक-राजनीतिक स्थिति, पराधीन देश, अमीरी-गरीबी, नैतिकता, आदर्श, धर्म आदि विषयों को केंद्र बिंदु बनाया गया|

प्रेमचन्द के आगमन से हिन्दी कहानी आदर्शोंनुमुखी यथार्थ की ओर मुड़ा और प्रसाद के आगमन से रोमांटिक यथार्थवाद की ओर। प्रेमचंद की कहानियों में ग्रामीण जन-जीवन का सजीव चित्रण हुआ है| इनके प्रमुख कहानी 'ठाकुर का कुआँ', 'पूस की रात' 'बड़े भाई साहब', 'बूढी काकी' 'दफ्तरी', 'मुक्ति-मार्ग' आदि हैं| चंद्रधर शर्मा 'गुलेरी' की कहानी 'उसने कहा था' में रोमांटिक यथार्थवाद के तत्त्व परिलक्षित होते हैं, यह पहली ऐसी कहानी है जिसमें हिंदी साहित्य में पहली बार फ़्लैशबैक का प्रयोग हुआ| सन् 1922 में पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र का हिन्दी-कथा-साहित्य में प्रवेश हुआ। उग्र की कहानियों में न तो प्रसाद की तरह स्वछन्द प्रेम के तत्त्व परिलक्षित होते हैं

और न ही प्रेमचंद के आदर्शोन्मुख यथार्थवादी रूप। समाज का यथार्थवादी चित्रण इनके कहानियों में हुआ| उन्होंने अपनी कहानियों में समाज के नंगे यथार्थ को सशक्त भाषा-शैली के माध्यम से उजागर किया। सन् 1927-1928 में जैनेन्द्र के आगमन के साथ ही हिन्दी-कहानी का नया उत्थान शुरू हुआ। जैनेन्द्र की कहानियों के माध्यम से पहली बार 'व्यक्ति' को महत्त्व मिला| इनकी कहानियों में बाह्य जीवन-यथार्थ से अधिक मनःस्थिति से संबंधित विषयों पर विचार किया गया| उनके ही शब्दों में – "परिस्थिति मेरे लिए कोई मनःस्थिति से स्वतंत्र अस्तित्व रखने वाली चीज नहीं है| उस दृष्टि से परिस्थिति की बात करूँ तो मेरे जीवन का कच्चा चिट्ठा ही खुल निकलेगा| उसे खोलना मुझे मंजूर नहीं है| न खुले, इसीलिए तो कथा-कहानी और उपन्यास है|" [1] जैनेन्द्र की प्रमुख कहानी 'खेल', 'फांसी', 'वातायन', 'नीलम देश की राजकन्या','एकरात', 'दो चिड़ियाँ' आदि हैं|

सन् 1936 में प्रगतिशील संघ की स्थापना हो चुकी थी। इस समय के कहानियों में प्रगतिशीलता के तत्त्व का जो समावेश हुआ उसे युगधर्म समझना चाहिए। यशपाल स्वाधीनता संग्राम के सक्रिय क्रांतिकारी कार्यकर्ता थे जिसके कारण उनके कहानियों में देशभक्ति के भाव को देखा जा सकता है।"नारी के प्रति सहानुभूति, नयी नैतिक मान्यताओं की प्रतिष्ठा, शोषण-वृत्ति के प्रति आक्रोश,रूढ़ियों के प्रति आक्रोश, यथार्थ स्वीकृति, हीनों, उपेक्षितों और असहायों के प्रति सहानुभूति, नए सन्दर्भों की प्रतिष्ठा और व्यंग्य-शैली के प्रयोग की दृष्टि से यशपाल अन्यतम माने जायेंगे|"[2] इनकी 'पिंजरे की उड़ान', 'ज्ञानदान', 'अभिशप्त', 'धर्मयुद्ध', 'वो दुनिया' 'फूलों का कुर्ता', 'सच बोलने की भूल' अदि प्रमुख कहानियां हैं |

इसी क्रम में अज्ञेय के आगमन से कहानी को एक नई दिशा मिली जिस आधुनिकता बोध की चर्चा पूरे साहित्य जगत में हुई उसके प्रथम पुरस्कर्ता अज्ञेय ही ठहरते हैं।

---

[1] जैनेन्द्र, *कहानी अनुभव और शिल्प*, पूर्वोदय प्रकाशन, दिल्ली, प्र.सा.1967, पृ.73

[2] रामचन्द्र तिवारी, *हिंदी का गद्य-साहित्य*,विश्वविद्यालय प्रकाशन, वारणसी, एकादस संस्करण, पृ.371-372

अज्ञेय की पहली कहानी 'जिज्ञासा' 1929 में लिखी गई परन्तु 1935 में प्रकाशित हुई| 1931 में जेल जीवन में उन्होंने सात कहानियां लिखीं जिनमें 'विपथगा', 'मिलन' 'अकलंक', 'हारिति' जैसी श्रेष्ठ कहानियां हैं और ये सभी विदेशी परिवेश को लेकर लिखी गयी| देशी परिवेश में 'अमर वल्लरी' 'छाया', 'द्रोही', आदि कहानियां लिखी गयी| सन्1932 में जेल जीवन के दौरान ही 'विवेक से बढ़कर', 'अभिशप्त', जैसी विदेशी परिवेश पर आधारित कहानियां लिखी गईं| इसी क्रम में अज्ञेय ने सन् 1933 में 'अंगारों के पथ पर', 'कैसांड्रा का अभिशाप' जैसी श्रेष्ठ कहानियां लिखीं तो वहीं दूसरी ओर 'क्षमा' 'एकाकी तारा' जैसी कमजोर कहानियां भी लिखीं| सन्1934 में 'ग्रेगिन' जैसी श्रेष्ठ कहानी का प्रकाशन हुआ| इसी समय 'पहाड़ी जीवन', 'अलिखित कहानी', 'दुःख और तितलियां', लिखी गईं, पर बाद में ये कहानियां 'शेखर: एक जीवनी' का भाग बन गई| सन्1935 में लेखक ने चार कहानियां-'शांति हँसी थी', 'सूक्ति और भाष्य', 'शत्रु', 'प्रतिध्वनियाँ' लिखीं जिसमें 'शत्रु' एक अलग प्रकार की चिंतनपरक श्रेष्ठ कहानी है| 1936 में इनकी 'ताज की छाया में' 'सभ्यता का एक दिन' 'नयी कहानी का प्लाट', 1937 में 'नम्बर दस', 'अछूते फूल', 'सिगनेलर', 'जिजीविषा', 'चिड़ियाघर', 'कविता और जीवन? एक कहानी', 'सेब और देव' कहानियां आयी|

1939 में 'आदम की डायरी' एक अलग ढंग की कहानी है जिसमें लेखक प्रतीकों के माध्यम से वस्तु सत्य की तलाश करते हैं| 1935 से 1946 तक अज्ञेय के कहानी लिखने का उत्साह कुछ कम हो जाता है| 1947 अज्ञेय के कहानी लेखन का श्रेष्ठतम काल है| 'हिली बोन की बत्तखें', 'मेजर साहब की वापसी', 'लैटर बॉक्स', 'शरणदाता', 'मुस्लिम-मुस्लिम भाई-भाई', 'बादल' आदि कहानियां विभाजन की त्रासदी पर लिखी गईं, जिसमें 'लैटर बॉक्स', 'शरणदाता', कहानियां निश्चय ही श्रेष्ठता की श्रेणी में गिनी जाएंगी| 1949 में 'वसंत' और 'कविप्रिया' सम्भवत: रेडियो की तकनीक ध्यान में रखकर लिखी गयी| इसी क्रम में अज्ञेय ने 1950 में 'जयदोल', 'पठार का धीरज', 'सांप', 'वे दूसरे', 'नंगा पर्वत की एक घटना' आदि उत्कृष्ट

कहानियां लिखीं| अज्ञेय ने कुल 67 कहानियां लिखीं जिनमें 23 कहानियां बेहतरीन हैं|

1.2.2 उपन्यास का स्वरूप एवं विकास:

उपन्यास शब्द उप+न्यास से बना हुआ है| उपन्यास शब्द का अर्थ बृहदकाय है| गुजराती साहित्य में जो रूप नवलकथा का है, हिंदी साहित्य में वही रूप उपन्यास का है| उपन्यास शब्द की उत्पत्ति के सम्बन्ध में डॉ नगेन्द्र कहते हैं-

" 'उपन्यास' संस्कृत का तत्सम शब्द है जो 'उप' और 'नि' पूर्वक 'अस' धातु में 'घञ' प्रत्यय जोड़ने से व्यत्पन्न हुआ है| 'अस' का अर्थ रखना, स्थिर करना, प्रक्षेपण करना आदि| इस आधार पर 'उपन्यास' शब्द का अर्थ हुआ-ऐसी रचना जिसमें जीवन के अनेक पक्षों का प्रक्षेपण किया गया हो|"[1] "बँगला में उपन्यास शब्द अंग्रेजी(novel) का समानार्थी है|"[2]

उपन्यास की परिभाषा पर विचार करते समय यह पंक्ति बरबस याद आ जाती है- 'बात तुम्हारी जिन्दगी भर की, मगर बात इतनी, बात आधी रह गई|' उपन्यास के संदर्भ में उपरोक्त पंक्ति बहुत ही सटीक बैठती है| उसके उद्भव से लेकर अब तक, कई विद्वानों ने उसे परिभाषित करने की कोशिश की हैं और आगे भी किया जाता रहेगा|

उपन्यास शब्द उप(समीप) तथा न्यास (थाती) के योग से बना है, जिसका अर्थ हुआ मनुष्य के निकट रखी हुई वस्तु अर्थात वह वास्तु या कृति जिसको पढ़कर ऐसा लगे कि की वह हमारी ही है| इसमें हमारे जीवन का प्रतिविम्ब है|"[3]

स्वयं प्रेमचंद ने उपन्यास को परिभाषित करते हुए कहा है – "मैं उपन्यास को मानव-चरित्र का चित्र मात्र समझता हूँ| मानव चरित्र पर प्रकाश डालना और उनके रहस्यों

---

[1] डॉ नगेन्द्र (सं.), *हिंदी साहित्य का समेकित इतिहास*, हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय,दिल्ली विश्वविद्यालय,तीसरा संस्करण,2013, पृ. 580

[2] डॉ रामस्वरूप त्रिपाठी, डॉ गुप्त, *बृहद साहित्यिक निबंध*- पृ.774

[3] धीरेन्द्र वर्मा(सं.),*हिंदी साहित्य कोश-भाग* -1, ज्ञानमंडल लिमिटेड,वाराणसी, 1958 ,पृ-16

को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्त्व है... जैसे सब आदमियों के हाथ, पाँव, आँख, कान, नाक, मुँह होते है पर उतनी समानता पर भी जिस तरह उनमें विभिन्नता मौजूद रहती है उसी भांति सब आदमियों के चरित्र में भी बहुत कुछ देखना है| समानता होते हुए भी कुछ विभिन्नताएँ होती हैं| यही चरित्र संबंधी समानता और विभिन्नता, अभिन्नत्व और विभिनत्व में अभिन्नत्व दिखाना उपन्यास का मुख्य कर्तव्य हैं| [1] इस प्रकार उपन्यास मनुष्य के सामजिक, वैयक्तिक अथवा दोनों प्रकार के जीवन का रोचक साहित्यिक रूप हैं| जो प्रायः एक कथासूत्र के आधार पर निर्मित होता है|

उपन्यास की परिभाषा देते हुए बाबु गुलाब राय कहते हैं- "उपन्यास कार्यकारक श्रृंखला में बंधा हुआ वह गद्य कथानक हैं| जिसमें अपेक्षाकृत अधिक विस्तार और पेचीदगी के साथ जीवन का प्रतिनिधित्व करनेवाले व्यक्तियों से सम्बंधित वास्तविक और काल्पनिक घटनाओं द्वारा मानव जीवन के सत्य का रसालक रूप से उद्घाटन किया जाता है|"[2]

"यह सत्य हैं कि मुझे कविता नाटक की अपेक्षा उपन्यास में यथार्थ को आंकना सरल प्रतीत होता है|"[3]

"उपन्यास यथार्थ मानव अनुभवों एवं सत्य का आकलन है| वह जीवन की एकता में अनेकता तथा अपूर्णता में समग्रता स्थापित करने का प्रयत्न करता है|"[4]

अतः कहा जा सकता है कि उपन्यास मानव जीवन को समग्र रूप से प्रस्तुत करनेवाला आधुनिक युग में सबसे सशक्त साहित्यिक माध्यम है| जन्म से ही उपन्यास यथार्थ जीवन की ओर उन्मुख रहा है। पुरानी कहानियों से यह इसी बात में भिन्न है। उपन्यास जीवन की यथार्थ से रस खींचकर भावुकता के साथ मनुष्य की समस्याओं को प्रस्तुत करता है|

---

[1] प्रेमचन्द, *गोदान, डायमंड पॉकेट बुक्स,* नई दिल्ली, संस्करण, 2011 ,पृ.भूमिका

[2], बाबू गुलाब राय, *काव्य के रूप:सिद्धांत और अध्ययन,* पृ.155

[3] डॉ नगेन्द्र, *जयशंकर प्रसाद का अभिमत-विचार और अनुभूति,*पृ-31

[4] डॉ लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय, *हिंदी उपन्यास-उपलब्धियां,* साहित्य भवन, इलाहबाद, 1961, पृ.21

हिंदी उपन्यास की विकास यात्रा पर ध्यान दे तो हम पाएंगे कि 'प्रेमचन्द' पूर्व अधिकांशतः हिंदी उपन्यास कल्पना लोक में विचरण कराने तथा मनोरंजन के उद्देश्य से लिखे गए| साहित्य जगत में मुंशी प्रेमचंद के आने के बाद ही उपन्यास सामाजिक जीवन से पूरी तरह जुड़ी |

हिंदी में उपन्यास का प्रारम्भ भारतेंदु युग में बंगला उपन्यासों के अनुवाद से हुआ| इन अनुवादों के साथ ही कुछ मौलिक उपन्यास भी लिखे गएँ| कुछ विद्वानों ने हिंदी उपन्यास के विकास परंपरा को समझने हेतु इसे तीन भागों में विभाजित किया है- 1. सन्1882 से 1918 तक प्रेमचन्द पूर्व युग, 2.1919 से 1936 तक प्रेमचन्द युग 3.1937 से अब तक प्रेमचन्दोत्तर युग में बांटा गया है|

प्रेमचन्द पूर्व युग उपन्यासों के विषय में सुभद्रा कुमारी चौहान कहती हैं-"उपन्यास मुख्य रूप से प्रेम सम्बन्धी कहे जा सकते हैं| जिसके फलस्वरूप हावभाव, मान और अभिसार के चित्र अधिक मिलते हैं|"[1]

इस युग में उपन्यासों की शुरुआत लाला श्रीनिवासदास के उपन्यास 'परीक्षागुरू' से हुई| कुछ विद्वानों ने इस उपन्यास को हिंदी साहित्य का पहला उपन्यास कहा है क्योंकि पाश्चात्य शैली पर लिखा गया यह पहला उपन्यास है| इसके पश्चात श्रद्धाराम फिल्लोरी की 'भाग्यवती' ठाकुर जगमोहन का 'श्यामा स्वप्न' एवं बालकृष्ण भट्ट का 'नूतन ब्रहमचारी' का प्रकाशन हुआ| इस युग में ऐतिहासिक , सामाजिक, तिलस्मी एवं जासूसी उपन्यास लिखे गए|

ऐतिहासिक उपन्यासों में किशोरीलाल गोस्वामी की 'ह्रदयहारिणी', एवं 'आदर्श रमणी' प्रमुख हैं| सामाजिक उपन्यासकारों में लाला श्रीनिवासदास, ब्रजनंदन सहाय, बाल कृष्ण 'भट्ट', गोपालराम गहमरी के नाम उल्लेखनीय हैं| इस युग के उपन्यासों में जासूसी एवं तिलिस्म की एक लम्बी परम्परा रही है, जिनमें देवकीनंदन खत्री गोपालराम गहमरी, किशोरी लाल गोस्वामी के नाम प्रमुख है| देवकीनंदन खत्री

[1] बाबु गुलाब राय, *काव्य के रूप:सिद्धांत और अध्ययन,* पृ.31

द्वारा रचित 'चन्द्रकान्ता' एवं 'चन्द्रकान्ता संतति' उपन्यास अत्यधिक प्रसिद्ध हुए| गोपालराम गहमरी के 'घटना-घटाटोप', 'अद्‌भुत लाश', 'बेकसूर की फाँसी', 'सरकती लाश', 'डबल जासूस', 'भयंकर चोरी', 'खूनी की खोज', 'गुप्त भेद' आदि उपन्यास जासूसी कथाओं पर आधारित है|

हिंदी उपन्यास को नया मोड़ देने वाले प्रेमचन्द अपने युग के ही नहीं हिंदी के सबसे श्रेष्ठ उपन्यासकार हैं| सन्1918 ई. में प्रेमचंद का पहला उपन्यास 'सेवा सदन' का प्रकाशन हुआ, जिसमें समाज के रूढ़ियों, स्त्री शिक्षा की समस्या, बेमेल विवाह, विधवा विवाह, वेश्या समस्या जैसे समाज के मौलिक समस्याओं पर विचार किया है| इसके बाद इनका 'प्रेमाश्रम, 'गोदान', 'गबन', 'निर्मला', 'रंगभूमि', 'कर्मभूमि' आदि उनके प्रसिद्ध उपन्यास हैं| जिसमें गोदान पूरे हिंदी साहित्य के उपन्यासों की परंपरा में 'मील का पत्थर' है, जिसमें लेखक ने 'होरी' नामक किसान के माध्यम से भारतीय किसान के संघर्षमयी जीवन का बहुत ही मार्मिक चित्रण किया है|

इसके अतिरिक्त इस युग में जयशंकर प्रसाद कृत 'कंकाल', 'तितली', निराला द्वारा रचित 'अप्सरा', 'अलका', 'निरुपमा', भगवती चरण वर्मा कृत 'पतन', एवं 'विराटा की पद्मिनी, जैनेन्द्र कृत 'सुनीता', 'परख' आदि उपन्यास प्रमुख रहे हैं| हिंदी का सामजिक उपन्यास इसी समय अपने उत्कर्ष के शिखर पर पहुंचा| ऐतिहासिक एवं मनोवैज्ञानिक उपन्यास भी इस काल में लिखे गए|

प्रेमचंदयुगीन उपन्यासों में जहाँ कथानक पर अधिक बल था वहीं प्रेमचंदोत्तर उपन्यासों में चरित्र पर बक दिया गया| इस युग में भगवतीचरण वर्मा, उपेन्द्रनाथ अश्क, यशपाल, अमृतलाल नागर उपन्यासकार प्रमुख हैं| भगवतीचरण वर्मा कृत 'चित्रलेखा' बेहतरीन चरित्रप्रधान उपन्यास है| यशपाल का 'झूठा-सच', अमृतलाल नागर का 'अमृत और विष' , तथा 'बूँद और समुद्र' उपन्यास इस युग की नींव है| इस युग में उपन्यास की एक लम्बी परंपरा का आरम्भ हुआ जिसमें ऐतिहासिक, सामाजिक, आंचलिक, मनोवैज्ञानिक आदि प्रकार के उपन्यास लिखे गए| नागार्जुन,

विष्णु प्रभाकर, धर्मवीर भारती, जैनेन्द्र कुमार,अज्ञेय आदि इस युग के प्रमुख उपन्यासकार रहे|

अज्ञेय का पहला उपन्यास 1940 में 'शेखर: एक जीवनी' पहला भाग प्रकाशित हुआ| चार वर्ष बाद 1944 ई. में 'शेखर: एक जीवनी' का दूसरा भाग प्रकाशित हुआ| अज्ञेय के प्रथम उपन्यास को लेकर हिंदी आलोचकों में जितनी चर्चा हुई उतनी शायद ही किसी उपन्यास को लेकर हुई होगी| सन्1951 में उनका 'नदी का द्वीप' प्रकाशित हुआ| इस उपन्यास की भी चर्चा कम नहीं हुई| अज्ञेय का स्वागत 'एक अतिशय आत्म केन्द्रित और अहं प्रमुख' तथा नास्तिक बुद्धिवादी कलाकार के रूप में हुआ| अज्ञेय का तीसरा उपन्यास 'नदी के द्वीप' 1961 में प्रकाशित हुआ| "इसमें मृत्यु क्षणों के संदर्भ में मानव- मन का विश्लेषण किया गया है|"[1] पुस्तक के आवरण पर ही लिखा गया है- "मृत्यु को सामने पाकर कैसे प्रियजन भी अजनबी हो जाते हैं और अजनबी एक पहचाने हुए, कैसे इस चरम स्थिति में मानव का सच्चा चरित्र उभर कर आता है- उसका प्रत्यय, उसका अदम्य साहस और उसका विमल अलौकिक प्रेम भी वैसे ही और उतने ही अप्रत्याशित धनाग से क्रियाशील हो उठते हैं, जैसे उसकी निम्नतर प्रवृत्तियां|"[2] अज्ञेय के उपर्युक्त तीनों उपन्यास हिंदी साहित्य की विशिष्ट कृतियाँ हैं|

1.3 कथेतर साहित्य

हिंदी साहित्य के आधुनिक युग में जिन कथेतर गद्य विधाओं का विकास हुआ है, उनमें निबंध, जीवनी, संस्मरण, रेखाचित्र, व्यंग्य, रिपोतार्ज, डायरी, साक्षात्कार आदि विधाएं बीसवीं सदी की देन है| इन गद्य विधाओं में कल्पना कम अवकाश रहता है|

निबंध- निबंध वह विधा है जिसमें लेखक किसी भी विषय का प्रतिपादन अबाध भाव से करता है| ये विषय किसी भी क्षेत्र के हो सकते है| निबंध में लेखक यथार्थ को बनाए रखते हुए बहुत ही निजीपन, स्वच्छंदता से विषय का प्रतिपादन करता है| निबंध का

---

[1] रामचन्द्र तिवारी, *हिन्दी का गद्य साहित्य*, विश्विद्यालय प्रकाशन,वाराणसी, एकादश संस्करण,2016 पृ-982

[2] अज्ञेय, *अपने-अपने अजनबी*, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 2010, आवरण पृष्ठ

शब्दिक अर्थ है जो बंधा हुआ न हो| मूलतः निबंध शब्द का प्रयोग पहले भोजपत्रों के संदर्भ में होता था, वर्तमान में इसका उपयोग के केवल साहित्य के संदर्भ में होता है| शुरूआती दौर में निबंध पद्य तथा गद्य दोनों रूप में लिखे जाते थे परन्तु आज केवल इसके गद्य रूप को ही निबंध के रूप स्वीकार किया जाता है| निबंध उसे कहते हैं जब लेखक किसी विषय का प्रतिपादन विभिन्न मतों व विचारों के माध्यम से आत्मीयता व निजीपन से करे अर्थात "निबंध उस गद्य रचना को कहते हैं जिसमें सीमित आकार के भीतर किसी विषय का वर्णन या प्रतिपादन एक विशेष निजीपन, स्वच्छंदता, सौष्ठव और सजीवता तथा आवश्यक संगति तथा सभ्यता के साथ किया गया है|" निबंध मुख्यतः दो प्रकार के होते हैं, पहला वैचारिक निबंध एवं दूसरा ललित निबंध| सृजनात्मक स्तर पर वैचारिक निबंधों में में कल्पना का पुट अपेक्षाकृत कम है| ये निबंध बहुत ही सुगठित, तर्कपुष्ट विवेचनों से संपृक्त होते हैं| ललित निबंधों में निजीपन, भावों की प्रधानता, मन की उन्मुक्त भटकन, व्यक्ति व्यंजकता, संस्मरणात्मक शैली, कल्पनात्मक उन्मुक्त उड़ान, सर्जनशीलता जैसे गुणों को प्रमुखता दी जाती है|

संस्मरण - संस्मरण का अर्थ "सम्यक स्मृति" होता है| व्यक्ति अपनी स्मृति की आधारशिला पर टिका होता है। उसकी स्मृतियाँ उसकी पहचान होती हैं और ये स्मृतियाँ ही उसके वर्तमान को अतीत और भविष्य से जोड़ती हैं। संस्मरण में अतीत के ख़ास क्षणों, महत्वपूर्ण मोड़ों को सजीव करने का प्रयास किया जाता है। समान्यतः लोगों के बीच यह धारणा रही है संस्मरण केवल प्रसिद्ध व्यक्तियों पर लिखी जाती है| पर यह अनिवार्य नहीं है| यदि कोई व्यक्ति या लेखक किसी अन्य व्यक्ति यथा अपने मित्र, परिवार जन के सदस्य आदि के साथ बिताये गए क्षणों को भावुकता के साथ कलमबद्ध करे तो वह भी संस्मरण की ही श्रेणी में आएगा| इसके लिए आवश्यक नहीं है कि लेखक किसी श्रद्धेय व प्रसिद्ध व्यक्ति का चुनाव करे| विषय महत्वपूर्ण होनी चाहिए| वस्तुत्व, स्मृति, अनुभव, आत्मीयता, व्यक्तिकता, स्वानुभूत सत्य इत्यादि संस्मरण के प्रमुख तत्त्व हैं| संस्मरण में इन सभी का परस्पर संतुलित सम्मिश्रण होना चाहिए|

आलोचना- आलोचना शब्द 'लुच' धातु से बना है। 'लुच' का अर्थ है 'देखना'|समीक्षा और समालोचना शब्दों का भी यही अर्थ है। आलोचना के लिए अंग्रेजी में 'क्रिटिसिज्म' अर्थात 'criticism' शब्द का व्यवहार होता है| संस्कृत में इसके लिए 'टीका-व्याख्या' और काव्य-सिद्धान्तनिरूपण के लिए भी आलोचना शब्द प्रचलित है, जबकि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने संस्कृत के काव्य-सिद्धान्तनिरूपण के लिए आधुनिक आलोचना शब्द को उपयुक्त नहीं माना है| आलोचना का कार्य है किसी साहित्यक रचना की अच्छी तरह से परिक्षण कर उसके रूप, गुण, दोष, मूल प्रवृत्तियों तथा उसके उद्देश्य का वर्णन करना है|

रेखाचित्र- रेखाचित्र स्मृति पर आधारित रचना है| इसमें लेखक अपने स्मृति के आधार पर से कुछेक रेखाओं के माध्यम से व्यक्ति विशेष का चरित्र चित्रण करते हैं| रेखाचित्र के स्वरूप के सम्बन्ध में बनारसीदास चतुर्वेदी लिखते हैं- "रेखाचित्र खींचना एक कला है| थोड़ी सी रेखाओं के द्वारा एक सजीव चित्र बना देना किसी कुशल कलाकार का ही काम हो सकता है| उनके अनुसार सफल चित्रण के लिए चित्रकार में विश्लेषणात्मक बुद्धि तथा भावुकतापूर्ण ह्रदय, दोनों का सामजंस्य होना चाहिए| परदु:खकातरता, संवेदनशीलता, विवेक और संतुलन इन सब गुणों की आश्यकता है| वे कहते हैं कि यदि आपके ह्रदय में गुणज्ञता हो, स्वाभव में रसज्ञता और मस्तिष्क में विश्लेषण शक्ति तथा विवेक भी, तो आप एक से एक रेखाचित्र खींच सकते हैं|"[1]

आत्मकथा- "आत्मकथा मूलतः अंग्रेजी शब्द 'Autobiography' की अनुवाद पीठिका पर बना हुआ है| संस्कृत में 'आत्मवृत कथवम्' और 'आत्मचरित' शब्द अवश्य मिलते हैं, जो आत्मकथा के अर्थ में स्वीकृत शब्द है| Autobiography के लिए हिंदी में अनेक शब्द प्रचलित हैं-आत्मकथा, आत्मवृत्त, आत्मगाथा, आत्मचरित्र, स्वकथा, आत्मजीवनी, आत्मवृतान्त, आत्मचरित्र रचना,आत्मकहानी, मेरी जीवन यात्रा आदि|

[1]बनारसी दास चतुर्वेदी, *संस्मरण,* भारतीय ज्ञानपीठ,वाराणसी,द्वितीय संस्करण,1958,पृ.

किन्तु इन सभी शब्दों के मध्य Autobiography के अनुवाद के रूप आत्मकथा शब्द को व्यापक स्वीकृति मिली|"[1]

वहीं नगेन्द्र ने आत्मकथा की के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहते हैं- "आत्मकथाकार अपने सम्बन्ध में किसी मिथक की रचना नहीं करता, कोई भी स्वभावदृष्टी नहीं रचता, वरन् अपने गत जीवन के खट्टे-मीठे, उजले-अँधेरे, प्रसन्न-विषष्ण, साधारण-असाधारण संरचना पर मुड़कर एक दृष्टि डालता है, अतीत को पुनःकुछ क्षणों के लिए स्मृति में जी लेता है और वर्तमान तथा अतीत के मध्य संबंध सूत्रों की अन्वेश्ना करता है|"[2]

आत्मकथाकार इस विधा में अपने निजी जीवन की प्रमुख घटनाओं को क्रमबद्ध रूप में अंकित करता है| यहाँ लेखक अपने अनुभवों को निष्पक्ष तथा स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त करता है| संक्षेप में, आत्मकथा लेखक आपबीती बातों पर प्रकाश डालता हुआ अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्व, चरित्र, कार्यकलाप, विजय-पराजय, उपलब्धि-अनुपलब्धियों का वर्णन करता है|

यात्रावृतांत- यात्रावृतांत में स्मृतियों के सहारे यात्रा के दौरान घटित अतीत की घटनाओं को कलात्मक रूप दिया जाता है, परन्तु यात्रावृतांत में भौगोलिक विस्तार, प्राकृतिक सौंदर्य, और यात्रा की घटनाएँ महत्वपूर्ण होती है, पर संस्मरण में यह अपेक्षित नहीं है| इस संदर्भ में डॉ राम स्वरूप चतुर्वेदी ने कहते हैं- "यात्रा संस्मरण का एक पक्ष भूगोल के आकर्षण से जुड़ा हुआ है| देश-दर्शन यात्रा संस्मरण की मूल वृति है, जिसमें एक और प्रकृति की पुकार है, दूसरी ओर साहसिक जिज्ञासा| यात्रा मानो विराट, मानवीय विकास का ही एक सीमित प्रतीक है| इस दृष्टि से यात्रा-संस्मरण लेखक और पाठक दोनों के लिए एक आदिम प्रतीक या पुराण कथा बार-बार अपने को खोलता रहता है|"[3] यात्रा-वृतांत में यात्रा के दौरान परिचित होने वाले व्यक्तियों

---

[1] विनीता अग्रवाल, *हिंदी आत्मकथाएं-सिद्धांत एवं विश्लेषण,* पृ-2-3

[2] डॉ नगेन्द्र, *आस्था के चरण,*नेशनल पब्लिशिंग हाउस दिल्ली, दिल्ली, द्वितीय संस्करण, 1980, पृ. 202

[3]रामस्वरूप चतुर्वेदी, *अज्ञेय और आधुनिक रचना की समस्या,* भारतीय साहित्य प्रकाशन, मेरठ, 1968 ,पृ-105

के साथ व्यतीत किए गए समयया या घटित महत्वपूर्ण घटना को लेखक भावपूर्ण रूप से या कलात्मक रूप से अभिवयक्त करता है, जहाँ स्मरणीय व्यक्ति से संबंधित प्रसंगों के माध्यम से उसके व्यक्तिगत चरित्रों का भी उद्घाटन होता है, इसलिए यात्रावृतांत को यात्रा संस्मरण भी कहते है, पर यह प्रत्येक यात्रावृतांत में यह आवश्यक नहीं है|

जीवनी-'जीवनी' आधुनिक हिंदी गद्य साहित्य की एक नवीन विधा है, परन्तु इस नवीन विधा के गुण प्राचीन काल में भी दिखते हैं| शिलालेखों, ताम्रपत्रों, स्तूपों, चित्र तथा कहानियों के माध्यम बहुत पहले से ही राजा-महाराजाओं के चरित्र का वर्णन किया जाता रहा है, परन्तु इसे पूरी तरह से जीवनी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इसमें वास्तविकता का आभाव है|

'जीवनी' के लिए अंग्रेजी में 'Biography' शब्द का व्यवहार होता है, इस प्रकार जीवनी का अर्थ " 'जीवन भर का वृतांत', 'जीवन चरित्र'"[1]है| जीवनी में जीवनीकार किसी विशिष्ट व्यक्ति का और उसके जीवन के स्वाभाविक विशेषताओं का क्रमबद्ध रूप से जीवंत वर्णन प्रस्तुत करता है| जीवनी के स्वरूप के संदर्भ में रामचन्द्र तिवारी कहते हैं- "जीवनी लेखन के लिए जिस मनोभूमि की आवश्यकता होती है, हिन्दी-साहित्य में अब तक उसका अभाव है| 'आत्मकथा' की रचना के लिए खुला हुआ मन, जो अपनी समस्त दुर्बलताओं को स्वीकार कर सके, आवश्यक है| दूसरे की जीवनी लिखने के लिए चरितनायक के सम्बन्ध में पूर्ण जानकारी अपेक्षित है| चरितनायक के प्रति पूज्यभाव या प्रशंसात्मक दृष्टिकोण होने के कारण प्रायः उसके जीवन के वे प्रसंग छोड़ दिए जाते हैं, जिन्हें वैज्ञानिक दृष्टिकोण से सामान महत्त्व दिया जाना चाहिए| हर मनुष्य के जीवन में ऐसे क्षण आते हैं जब वह देवता होता है और ऐसे भी क्षण आते हैं, जब उसके अचेतन में दबा हुआ पशु हुंकार उठता है| जीवनी-लेखन के आवश्यक है कि तटस्थ भाव से उभय-स्थितियों का चित्रण करे|"[2]

---

[1] रामचंद्र वर्मा(सं.), *हिंदी शब्द सागर*- नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, 1929, पृ-67

[2] रामचन्द्र तिवारी, *हिंदी का गद्य साहित्य,*विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, एकादश संस्करण, 2016, पृ.511

इसके अतिरिक्त कथेतर गद्य साहित्य में रिपोतार्ज, केरीकेचर, साक्षात्कार आदि विधाएं प्रमुख हैं|

1.4 कथा तथा कथेतर साहित्य में अंतर्संबंध

कथा साहित्य तथा कथेतर गद्य साहित्य के अंतर्संबंध पर दृष्टिपात करने पर हम पाएंगे कि दोनों ही विधाएं काफी भिन्न है| उपन्यास एवं कहानी में जहाँ घटनाओं एवं प्रसंगों के उद्घाटन हेतु कल्पना का सहारा लिया जाता है वहीं कथेतर गद्य विधाओं स्वानुभूत सत्यों को प्रसंगों के माध्यम से उजागर किया जाता है| कल्पना का पुट इन गद्य विधाओं में बहुत कम होता है| इन विधाओं के बारे रामस्वरूप चतुर्वेदी कहते हैं- "कल्पना के सक्रिय सहयोग के अभाव में हल्की भाषिक सर्जनात्मकता का सहारा लेकर चलने वाले ये गद्य रूप अर्ध-सर्जनात्मक ही कहे जा सकते हैं|[1] उपन्यासों और कहानियों में जहाँ लेखक को कल्पना के द्वारा चरित्र का निर्माण कर रोचकता के साथ विषय-वस्तु को प्रस्तुत करने का अवसर मिलता है वहीं निबंधों, संस्मरणों, रेखाचित्रों, आत्मकथा जैसे कथेतर गद्य विधाओं में लेखक के लिए विषयों के प्रतिपादन के समय रोचकता की उत्पत्ति करना काफी कठिन होता है| उपन्यास तथा कहानियों में हम लेखक द्वारा सृजित पात्रों के माध्यम से लेखक के विचार से वाकिफ़ होते हैं वहीं कथेतर गद्य विधाओं में हम प्रत्यक्ष रूप से लेखक के विचारों से परिचित होते हैं अर्थात कथा साहित्यों में लेखक अपने जिन विचारों, मान्यताओं की स्थापना कल्पनिक कथानक, पात्रों के माध्यम से करता है वहीं कथेतर गद्य साहित्यों में लेखक अपनी मान्यताओं की स्थापना सीधे प्रत्यक्ष रूप से करता है| अतः यह कहा जा सकता है दोनों विधाओं में प्लाट तो भिन्न रहता है, उद्देश्य एक ही रहता है|

शैली के दृष्टिकोण से भी दोनों विधाएं काफी स्थानों पर मिलती-जुलती है| उदाहरण स्वरूप रेखाचित्रों, संस्मरणों में कहानी का पुट मिलता है वहीं उपन्यास में निबंध,रेखाचित्र, संस्मरण, आत्मकथा,जीवनी, संवाद सभी विधाओं के गुणों को अपने अंदर समाहित किए हुए होती है| "एक यूरोपियन आलोचक ने कहा था कि उपन्यास के पेट में आधुनिक माने जानेवाले सभी साहित्य रूप आ जाते है....आज की

[1] रामस्वरूप चतुर्वेदी, *अज्ञेय और आधुनिक रचना की समस्या*, भारतीय साहित्य प्रकाशन, मेरठ, 1968,पृ-103

साहित्यिक दुनिया में परिचित जितने भी रूप हैं, निबंध, साहित्य, पत्र, संस्मरण और इतिहास, धार्मिक प्रवचन, क्रांतिकारी मेनिफेस्टो, यात्रा विवरण, रेखाचित्र, डायरी आदि| इन सबको उपन्यास ने अपनाया है|"[1] अतः दोनों विधाएं अलग-अलग होने के बावजूद भी परस्पर मिलती-जुलती विधा है|

कथा साहित्य तथा कथेतर साहित्य के अंतर्संबंध के संदर्भ में अज्ञेय के दोनों विधाओं पर ध्यान केन्द्रित करने पर हम पाते हैं कि इनके सम्पूर्ण विधाओं में एक प्रकार की समरूपता है|

अज्ञेय के दोनों विधाओं में उनके व्यक्तित्व, विचार, स्थापनाएं स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त हुए हैं| इनके दोनों विधाओं में बुद्ध दर्शन, भारतीय और पाश्चत्य दर्शन की सुगठित विचारधारा देखी जा सकती है| साथ ही शैली के दृष्टिकोण से भी दोनों ही विधाएं परस्पर सम्बद्ध हैं| इनका उपन्यास 'शेखर एक जीवनी' आत्मकथा की शैली में लिखा हुआ है| बहुत से विद्वान् इसे अज्ञेय के आत्मकथा के रूप स्वीकार करते हैं| परन्तु इसे लेखक ने अपनी जीवनी मानने से इंकार किया है, पर भले ही 'शेखर: एक जीवनी' अज्ञेय के जीवन पर आधारित हो या न हो, पर हाँ, इसमें जीवनी के तत्त्व जरुर समाहित हैं|

साथ ही 'शेखर:एक जीवनी' में शिशु मानस के चित्रण हेतु लेखक ने अपने जीवन के घटनाओं का चयन किया है| जिसे लेखक ने स्वयं स्वीकार किया है-"शिशु मानस के चित्रण की सच्चाई मैंने 'शेखर' के आरम्भ के खण्डों में घटनास्थल ओने ही जीवन से चुने हैं, फिर क्रमश: बढ़ते हुए शेखर का जीवन और अनुभूति-क्षेत्र मेरे जीवन और अनुभूति क्षेत्र से अलग चला गया, यहाँ तक कि मैंने स्वयं अनुभव किया है कि एक स्वतंत्र व्यक्ति की प्रगति का दर्शक और इतिहासकार हूँ...|"[2] लेखक ने शेखर के माध्यम से इस उपन्यास में में एक ऐसे चरित्र का निरूपण किया है जो 'अच्छा भी नहीं, लेकिन जागरुक और स्वतंत्र और ईमानदार, घोर ईमानदार"[3] हैं| यहाँ लेखक ने

---

[1] सं.डॉ माखनलाल शर्मा, *हिंदी उपन्यास सिद्धांत और विवेचन,* पृ. 42

[2] अज्ञेय, *शेखर एक जीवनी(भाग-१),* मयूर पेपरबेक्स, दिल्ली, संस्करण-2010 पृ.-भूमिका-viii,

[3] वही, भूमिका-ix

व्यक्ति स्वतंत्रता को बहुत ही महत्त्व दिया है, जो उनके सम्पूर्ण साहित्य में झलकता है|

लेखक के वैचरिक निबन्धों व अन्तःप्रक्रियाओं में इस स्वाधीनता की भावना, स्वाधीनता की खोज को देखा जा सकता है| 'स्रोत और सेतु' निबंध संग्रह की निम्न पंक्ति उदाहरण स्वरूप द्रष्टव्य है –

" मेरे लिए स्वाधीनता एक विविधता-भरा अनुभव रहा है| शायद इसी बात को पलट कर यों कहूं तो सच्चाई के निकटतर होगा कि बहुत से परस्पर भिन्न और रंगीन अनुभवों ने मिल कर मेरे भीतर स्वाधीनता का एक समग्र बोध जगाया है| एक प्रकार की स्वाधीनता का बचकाना और अचिरजीवी अनुभव मुझे तब हुआ था जब बचपन में मैं घर से भाग गया था और निकट के जंगल में जा छिपा था| घर छोड़ा था तब मन विद्रोह से भरा हुआ था| वन में घूमता हुआ कुछ समय तक तो मैं नाना प्रकार के उत्तेजक और रोमांचक अनुभवों का संग्रह करता रहा, लेकिन तीसरे पहर तक स्थिति कुछ बदलने लगी और साँझ होते न होते मैं थका-हरा, हतप्रभ और भूख से व्याकुल घर लौट आया| अनन्तर स्वाधीनता के और भी पहलुओं से परिचय होता गया और स्वाधीनता की खोज की अकुलता भी मैंने जानी.....|"[1]

यही स्वाधीनता की खोज, विद्रोह का भाव हमें उनके उपन्यास 'शेखर:एक जीवनी' में भी मिलता है-

" मुझे बहुत दिनों की बात याद आती है, कोई दस-एक बरस पूर्व की| तब मेरी आयु कोई चौदह वर्ष की थी, शायद पंद्रह की| तब मेरे अन्दर सुलगता हुआ विद्रोह भाव, अनेक स्थानों पर भटककर घर लौट आया तह| मैं अपने घर के विरुद्ध ही विद्रोह का आयोजन किया करता और विवशता पर और अपनी अकिंचनता पर दांत पीस-पीसकर रह जाता था| एक दिन, न जाने किस कारण मैंने घर छोड़ दिया| यह निर्णय मैंने कैसे किया, किन-किन प्रेरणाओं से बाध्य होकर किया, मुझे याद नहीं, किन्तु जिस भावना को लेकर मैं घर से निकला वह मुझे अभी याद है|...|"[2]

---

[1] अज्ञेय, *स्रोत और सेतु,* राजपाल एंड सन्स, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण,1978 पृ-11

[2] अज्ञेय, *शेखर एक जीवनी(भाग-१),* मयूर पेपरबेक्स, दिल्ली, संस्करण-2010 पृ.26

उपरोक्त पंक्तियों से स्पष्ट है की अज्ञेय के स्वतंत्रता सम्बन्धी विचार उनके कथा साहित्य के साथ-साथ कथेतर साहित्य में भी द्रष्टव्य है, फ़र्क बस इतना है कि विचारों को प्रस्तुत करने माध्यम भिन्न हैं| कहीं कल्पना के आधार पर पात्रों के सहारे तो कहीं स्वयं प्रत्यक्ष रूप से| अतः यह कहा जा सकता है कि निबंध, अन्तःप्रक्रियाएं लेखक के विचार, मान्यताएं, स्थापनाएं हैं तो 'कहानी' एवं 'उपन्यास' उसका प्रयोग है|

लेखक ने हमेशा से अपने विचारों में स्वाधीनता, काल, प्रतीक, भाषा, संस्कृति को महत्त्व दिया है, ये समस्त विचार उनक कथा साहित्य में किसी न किसी रूप में उजागर हुई है|

शेखर एक जीवनी के स्थान पर प्रतीकों के श्रेष्ठ प्रयोग को देख सकते हैं-

'मेघाच्छन्न आकाश, प्रकाशहीन सांयकाल, पर्वत अचंचल ..... और उड़ते-उड़ते सहसा पंख जो गिरता है और और फिर अपनी उड़ान, अपना स्थान पा लेने के लिए छटपटा रहा है.....|"

वैचारिक निबंधों के साथ–साथ उनके उपन्यासों में भी जगह-जगह मातृभाषा को लेकर चिंतन दिखता है| प्रकृति के प्रति जो सम्मोहन उनके यात्रा-संस्मरणों में दिखता है वहीं सम्मोहन उनके उपन्यासों में भी दिखता है-

"वही झील, वही बजरा, वही दिन| संध्या हो चुकी है, सब लोग अन्दर चले गए हैं| मैं ही अकेला बजरे की छत पर बैठा हूँ| झील पर आकाश के गाढ़े और सम्मिश्रण रंग का प्रकाश पड़कर उसे ऐसे बनाये हैं, जैसे प्रकृति की वह निश्छल आँख नींद से अलसायी हो, और उस घेरे हुए बरौनियों की तरह सब ओर लम्बी लम्बी घास क्षितिज रेखा को जहाँ तहां चीर रही है| मैं मुग्ध होकर भी इसी घास के श्याम छायाचित्र को देख रहा हूँ| वह काली है, स्वत: सौन्दर्य-विहीन है, किन्तु कितने सौन्दर्य को घेरे हुए है|"[1]

यहाँ लेखक ने प्रतीकों के माध्यम से प्रकृति को आधार बनाते हुए अपने भावों की अन्यतम अभिव्यक्ति की है| अज्ञेय अपने वैचारिक साहित्य में जिस अकेलेपन की

---

[1] वही, पृ-32

बार-बार चर्चा करते हैं वह अकेलापन उनके कथा साहित्य में भी शेखर के माध्यम से अभिव्यक्त होता है-"वह अकेला था, अनुभव कर रहा था कि अकेला हूँ| और यह भी अनुभव कर रहा था कि मैं अकेला इसलिए हूँ कि मैं उस प्रकार का नहीं हूँ, जिसे लोग अच्छा कहते हैं..."

वहीं अपनी पुस्तक 'भवंती' में अकेलेपन के संदर्भ में कहते हैं- "अकेला तो मैं हूँ| ठीक है, अकेला हूँ| पर क्यों अकेला हूँ ? क्या इसलिए कि मैं राह से भटका हुआ हूँ और इस तरह वीरान में आ गया हूँ? या कि इसलिए कि राह मुझे दिखी तो मैंने उसे छोड़ा नहीं, चाहे वह मुझे में ले जाए? क्या मेरा अकेलापन मेरे दारिद्रय का परिणाम है, मेरी स्वाधीनता का, जिसके कारण कोई साथी नहीं मिला या बना-या कि ईमानदारी का, कि मैंने जब तब जिससे-तिससे समझौता नहीं कर लेना चाहा? क्या दुर्बल हूँ इसलिए अकेला हूँ, या समर्थ हूँ इसलिए अकेला हूँ?

या कि इसलिए अकेला हूँ कि किसी को साथ लेने में डरा हूँ| यह मानकर कि किसी को पास आने देने से मैं बंध जाऊंगा?

स्वाधीन हूँ इसलिए अकेला हो गया, या कि डरा इसलिए अकेला रह गया?"[1]

लेखक मृत्यु से साक्षात्कार के क्षण में जीवन का अर्थ समझाते हैं| उनका उपन्यास 'अपने-अपने अजनबी' मृत्यु से साक्षात्कार का आख्यान है| इसमें लेखक ने अस्तित्ववादी मनोविज्ञान का प्रयोग कलात्मक रूप से किया है| लेखक यही मृत्यु के प्रति दृष्टिकोण उनके अन्तः प्रक्रिया 'भवंती' मिलता है| इस पुस्तक के स्थान पर लेखक मृत्यु और जीवन के दर्शन के सम्बन्ध में लिखते हैं-"मृत्यु से साक्षात्कार के क्षण में जीवन का अर्थ समझ में आता होगा| पर यह अस्तित्ववादी सिद्धांत सच्चाई का केवल एक अंश या पहलू है| पूरी बात यह कि वास्तविकता का पूरा अर्थ और सच्चा रूप उस मुक्तावस्था में दीखता है जो उत्सर्ग के, विदाई के क्षण में मिलती है| जीवन का अर्थ भी, इसलिए, मृत्यु के साक्षात्कार के क्षण में नहीं, मुक्ति के ही क्षण में दीखता है-उस मुक्ति के जो जीवन के उत्सर्ग के क्षण में मिलती है| उसे मुक्ति का क्षण न कहकर मृत्यु

[1] .कृष्णदत्त पालीवाल, *अज्ञेय रचनावली,खंड-9, (डायरी-अन्तःप्रक्रियाएं)*, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 2012, पृ.80-81

के उत्सर्ग ही मुक्ति है; मुक्ति से सम्यक दृष्टि मिलती है; सम्यक् दृष्टि से हम वास्तविकता का, सत्ता का, अर्थ पहचानते हैं|"[1] उपरोक्त उक्ति का विस्तृत तथा सधा हुआ रूप यह उपन्यास है| उदाहरण स्वरूप उपन्यास की निम्न पंक्ति द्रष्टव्य है-" मृत्यु, मृत्यु,मृत्यु ....क्या उसमें भी कहीं रचना के लिए, सृष्टि के लिए गुंजाइश है?"[2]

इस प्रकार अज्ञेय के कथा और कथेतर साहित्य परस्पर सम्बंधित हैं| लेखक ने अपने कथा साहित्यों के माध्यम से अपने विचारों को निरुपित किया है| उनके सम्पूर्ण साहित्य में चाहे कविता हो, उपन्यास हो, कहानी हो, निबंध हो, संस्मरण हो, या आलोचना हो सभी जगह काल, भाषा, व्यक्ति स्वाधीनता, संस्कृति, इतिहास, जीवन और मृत्यु दर्शन आदि जैसे विषयों पर विचार किया गया है|

[1] वही,पृ 158

[2] अज्ञेय, *अपने अपने अजनबी,* भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली,2010,पृ.64

द्वितीय अध्याय

अज्ञेय के निबंध साहित्य का आलोचनात्मक अध्ययन

2.1 प्रस्तावना

2.2 हिंदी निबंध: स्वरूप एव विकास

2.3 अज्ञेय के निबंध का तात्त्विक विवेचन

2.3.1 वैचारिक निबंध

2.3.2 ललित निवंध एवं आत्मपरक निबंध

अध्याय- द्वितीय

अज्ञेय के निबंध साहित्य का आलोचनात्मक अध्ययन

2.1 प्रस्तावना

हिंदी साहित्य के आधुनिक युग में जिन गद्य विधाओं का विकास हुआ है, उनमें मुख्यतः निबंध, जीवनी, संस्मरण, रेखाचित्र, व्यंग्य, रिपोतार्ज, डायरी, साक्षात्कार आदि तथ्याश्रित विधाएं बीसवीं शताब्दी की देन है| इन विधाओं को विकसित करने हेतु जिन लेखकों ने महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है, उनमें अज्ञेय का नाम प्रमुख है| निबन्ध लेखन की परंपरा में अज्ञेय एक महत्त्वपूर्ण कड़ी के रूप में सामने आते हैं| 'हजारीप्रसाद द्विवेदी' के बाद उनके निबंध लेखन में अबाधित तर्कपूर्ण विचारधाराओं का प्रवाह दिखाई पड़ता है| लेखक ने बड़े ही आत्मीय भाव से विषयों का प्रतिपादन किया है जो हमारे मन मस्तिष्क के पटल पर एक अमिट छाप छोड़ जाती है, और काफी देर तक हमें उन निबंधों में डूबे रहने हेतु बाध्य करती हैं| बहरहाल अज्ञेय के निबंधों पर विचार करने से पूर्व निबंध क्या है, उसकी उत्पत्ति तथा अज्ञेय से पूर्व उसकी क्या परंपरा रही है, इन पर विचार करना आवश्यक है|

निबंध, प्रबंध एवं लेख तीनों पर विचार करने पर निबंध की सीमाओं का सम्यक बोध हो सकता है| 'निबंध' आधुनिक गद्य विधाओं में सबसे सार्थक माध्यम है| "निबंध का मौलिक अर्थ, नि+बन्ध(बंधना)+घञ्(संग्रहार्थक प्रत्यय) रोकना है जिसका प्रयोग लिखे हुए भोजपत्रों को संवारकर बाँधने या सीने की प्रक्रिया के लिए होता था| कालांतर में अर्थ-संकोच के रूप में केवल साहित्यिक कृति के लिए इसका उल्लेख किया जाने लगा|"[1] संस्कृत में निबंध के समानार्थी परन्तु व्यापक शब्द प्रबंध है,

[1] सं. डॉ धीरेन्द्र वर्मा, *हिंदी साहित्य कोश भाग दो*, राजकमल प्रकशन, नई दिल्ली, सन 1986, पृ.सं.408, पहले 'निबंध' शब्द का प्रयोग भोजपत्रों को बंधने तथा संवारने में होता था, आज केवल साहित्य के रूप में होता है|

जिसका मूल अर्थ है (प्र+बंध+अच्) संदर्भ या ग्रन्थ रचना| उपरोक्त पंक्तियों से स्पष्ट है कि निबंध तथा प्रबंध दोनों ही संस्कृत के शब्द हैं| पर दोनों में बड़ा ही सूक्ष्म अंतर है| प्रबंध का क्षेत्र निबंध से अपेक्षाकृत अधिक व्यापक होता है| प्रबंध में जहाँ विभिन्न विषयों से संबंधित अनेक मत संकलित होते हैं, वहीं निबंध में एक विषय के प्रतिपादन हेतु विभिन मत संकलित होते हैं| पर निबंध तथा प्रबंध दोनों में ही कसावट होती है| "'लेख' का सामान्य अर्थ तो 'लिखा हुआ' होता है किन्तु विशेषतः जब कोई लेखक किसी विषय पर अपनी प्रवृति, रुचि, आदर्श तथा मनोभावों के आधार पर लिखित रूप से विचार प्रकट करता है तो उसे लेख कह सकते हैं|"[1] 'निबंध', 'प्रबंध', 'लेख' के लिए क्रमश: 'एसे'(essay), 'ट्रिटाइज' (treatise) और 'आर्टिकल'(शब्द) का व्यवहार होते हैं| इस प्रकार निबंध, लेख तथा प्रबंध से भिन्न है|

2.2 हिंदी निबंध: स्वरूप एव विकास

आधुनिक हिंदी साहित्य की एक अत्यंत ही महत्त्वपूर्ण गद्य विधा के रूप में जो विधा उभरी उसे निबंध का नाम दिया गया| निबंध वह विधा है जिसमें लेखक किसी भी विषय का प्रतिपादन निर्मुक्त, निर्बाध भाव से करता है| ये विषय किसी भी क्षेत्र के हो सकते है| निबंध में लेखक यथार्थ को बनाए रखते हुए बहुत ही निजीपन, स्वच्छंदता के साथ विषय का प्रतिपादन करता है| जिस ग्रन्थ में एक ही विषय को प्रतिपादित करने हेतु अनेक व्याख्याएँ की गयी हो, उसे सामान्यतः निबंध कहा जाता है| कुछ विद्वानों ने निबंध में आत्माभिव्यक्ति को अधिक महत्त्व दिया है, वहीं कुछ विद्वान निबंध को मानसिक व्यायाम के रूप में देखते हैं| 'ऑक्सफ़ोर्ड इंग्लिश डिक्शनरी' में किसी विशिष्ट विषय या उसके शाखा के संबंध में एक मध्यम आकार की गद्य रचना को निबंध कहा गया है| निबंध को व्यक्ति प्रधान विधा के रूप में भी स्वीकार किया गया है| निबंध लेखन में ऐतिहासिक संदर्भ एवं ऐतिहासिक चिंतन, सांस्कृतिक पहलुओं, भाषा, व्यक्ति और समाज जैसे विषयों को भी प्रमुखता दी गई है, इसलिए

[1] नंददुलारे बाजपेयी, *आधुनिक हिंदी साहित्य*, भारती भण्डार लीडर प्रेस, इलाहाबाद,पंचम संस्करण, सन-1986, पृ.सं. 150

इसे गंभीर विचारों की अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम माना गया है| साहित्य में जिस प्रकार गद्य को कवियों की कसौटी कहा गया है| उसी प्रकार निबंध को गद्य की कसौटी कहा गया है| रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में "यदि गद्य कवियों या लेखकों की कसौटी है तो निबंध गद्य की कसौटी है|"[1]

आज निबंध को अनेक परिभाषाओं से परिभाषित किया गया है| जिनमें से कुछ निम्न प्रकार से हैं-

निबंध को परिभाषित करते हुए मस्तिष्क की स्वच्छंदता एवं शास्त्रसम्मत व्यक्तित्व के योग को निबंध की कसौटी मानते हुए आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने लिखा है कि "आधुनिक पाश्चात्य लक्षणों के अनुसार निबंध उसी को कहना चाहिए जिसमें व्यक्तिगत विशेषता हों तथा विचारों का समावेश ठूस-ठूस कर किया जाए। गद्य शैली का पूर्ण विकास निबंध में मिलता है इसलिए इसे गद्य की कसौटी कहना श्रेयस्कर होगा।"[2] तथा इसके साथ ही वे निबंध के गुणों के संबंध में यह भी कहते हैं कि "निबंध लेखक अपने मन की प्रवृत्ति के अनुसार स्वच्छंद गति से इधर-उधर फूटी हुई सूत्र शाखाओं पर विचरता चलता है। यही उसकी अर्थ संबंधी व्यक्तिगत विशेषता है। अर्थ-संबंध-सूत्रों की टेढ़ी-मेढ़ी रेखाएँ ही भिन्न-भिन्न लेखकों के दृष्टि-पथ को निर्दिष्ट करती हैं। एक ही बात को लेकर किसी का मन किसी संबंध-सूत्र पर दौड़ता है, किसी का किसी पर। इसी का नाम है, एक ही बात को भिन्न दृष्टियों से देखना। व्यक्तिगत विशेषता का मूल आधार यही है|"[3]

हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार-"नए युग में जिन नवीन ढंग के निबंधों का प्रचलन हुआ है वे व्यक्ति की स्वाधीन चिन्ता की उपज है|"[4]

---

[1] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, *हिंदी साहित्य का इतिहास*, नागरी प्रचारणी सभा, काशी, 2005, पृ-127

[2] वही, पृ.सं.122

[3] वही, पृ.सं.122

[4] हजारी प्रसाद द्विवेदी, *साहित्य सहचर*, नैवेद्य निकेतन, वाराणसी, 1965 , पृ-128

वहीं बाबु गुलाब राय ने निबंध के लिए अनिवार्य सभी तत्त्वों को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि "निबंध वह गद्यात्मक रचना है जिसमें सीमित आकार के भीतर किसी विषय का वर्णन या प्रतिपादन एक विशेष निजीपन, स्वच्छंदता, सौष्ठव एवं सजीवता आवश्यक संगति और सम्बद्धता के साथ किया गया हो।"[1]

कुछ विद्वान इसकी परिभाषा देते हुए कहते हैं कि एक सीमित आकार के भीतर एक विशेष निजीपन, स्वछंदता, सौष्ठव, सजीवता, आवश्यक संगति, अन्विति, संबद्धता इत्यादि के साथ जब किसी विषय का प्रतिपादन किया जाता है, उसे निबंध कहा जाता है| वहीं डॉ जॉनसन् ने निबंध को मष्तिस्क की ढीली–ढाली उद्भवना कहा है- "a loose sally of the mind, an irregular, undigested piece, not a regular and orderly composition".[2]

अंग्रेजी साहित्य के प्रथम निबंधकार लार्ड बेकन ने निबंध को 'डिस्पस्ॅड मेडिटेशन' (बिखरावयुक्त चिंतन) कहा है|[3]

डब्ल्यू एच हडसन् के अनुसार: "वास्तविक निबंध प्राकृतत: वैयक्तिक होता है| प्रबंध वस्तुपरक हो सकता है, किन्तु निबंध व्यक्ति-प्रधान होता है|" [4] इस प्रकार निबंध लेखक आत्मीयता या अनात्मीयता, वैयक्तिकता तथा निर्वैयक्तिकता के साथ किसी एक विषय या अनेक विषयों पर निजी भाषा शैली में अपने भावों एवं विचारों को प्रकट करता है| इस संबंध में डॉ विद्यानिवास मिश्र कहते हैं "साहित्य की विधा के रूप में हिंदी निबंध, संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश की कथा, विशेष रूप से 'आख्यायिका'

---

[1] डॉ गुलाब राय, *सिद्धांत और अध्ययन,* आत्माराम एंड सन्स, दिल्ली, प्र.सं.-1955 पृ.227

[2] रामचंद्र तिवारी, *हिंदी का गद्य साहित्य,* विश्विद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, एकादश संस्करण, 2016, पृ. 70.

[3] वही 70, विखरावयुक्त चिंतन अर्थात "The word Essay is late, but the thing is ancient. For Seneca'a epistles to lucilius, if one mark them well, are but essays, that is, Dispersed meditation."-Bacon
An Introduction to the study of literature, W.H Hudson, 7th Indian edition. Kalyani publisher, Ludhiana, 1976, page no-334. According to W.H. Hudson "The true essay is essentially personal. It belongs to literature of self expression. Treatise and dissertation may be objective, the essay is subjective."

का ही उत्तराधिकारी है और वह इसलिए प्रकृति एवं मानव जीवन में विम्बानुविम्ब भाव देखने का अभ्यासी है| यह बात पश्चिम के प्रकृतपरक व्यक्तिव्यंजक निबंधों में भी नहीं मिलती, इसी मायने में वह पश्चिम की उपरी सतह पर प्रभावित होते हुए भी भीतर से एकदम विलग है|"[1]

अतः निबंध हिंदी साहित्य की एक नितांत नवीन, महत्त्वपूर्ण एवं उद्देश्यपूर्ण विधा है| इसमें लेखक की मनःप्रवृति एवं अभिरुचि को केंद्र में रखा जाता है| सूक्ष्म निरीक्षण, खोजी वृति, हास्य विनोद, गांभीर्यता, तार्किकता, प्रमाणिकता आदि निबंध की पहचान है| निबंध में विषय की प्रस्तुति सहज, सरल, सुबोध होनी चाहिए ताकि निबंधों की संप्रेषणीयता बनी रहे| अर्थात "निबंध मन की स्वछन्द रचनाएं हैं| उनमें न कवि की उदात्त कल्पना रहती है, न आख्यायिका लेखक की सूक्ष्म दृष्टि : और न विज्ञों की तर्कपूर्ण विवेचना| उनमें लेखक की सच्ची अनुभूति रहती है, उनमें उसके सच्चे भावों की सच्ची अभिव्यक्ति होती है, उनमें उसका उल्लास रहता है|"[2]

हिन्दी में निबंध विधा का जन्म नवजागरण युग से माना जाता है| इस संदर्भ में डॉ. लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय कहते हैं- "निबंध रचना केवल खड़ी बोली की विशेषता है| खड़ी बोली गद्य के लिए उन्नीसवीं शताब्दी और उसमें भी निबंध रचना की दृष्टि से उन्नीसवीं शताब्दी का उत्तरार्ध महत्त्वपूर्ण है, इस दृष्टि से 'निबंध' हिंदी साहित्य का नितांत आधुनिक रूप है|"[3] इस उक्ति से यह स्पष्ट है कि निबंध हिंदी साहित्य का नितांत आधुनिक रूप है| इस दृष्टि से आदिकाल, मध्यकाल, रीतिकाल में निबंध लेखन जैसी कोई विधा नहीं मिलती|

प्रारम्भ में पत्र पत्रिकाओं के माध्यम से निबंध लेखन का कार्य चल रहा था| पत्रिकाओं में निबंधों के माध्यम से हिंदी पाठकों तक बातें, सन्देश प्रेषित की जाती थी| सरस्वती पत्रिका के प्रारम्भिक दौर में गद्य या पद्य दोनों ही शैलियों में लिखित

---

[1] डॉ विद्यानिवास मिश्र, *कटीले तारों के आरपार,* राधाकृषण प्रकाशन, दिल्ली, 1976, पृ.सं. 106,

[2] डॉ रामस्वरूप चतुर्वेदी, *हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास*, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली, छठा संस्करण-2011, पृ.सं.181

[3] डॉ लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, *आधुनिक हिंदी साहित्य,* हिंदी परिषद्, प्रयाग, चतुर्थ संस्करण-1971, पृ.सं.-148

रचनाओं को निबंध कहा जाता था| जबकि आज का हिंदी निबंध साहित्य केवल गद्य विधा तक ही सीमित रह गया है| कवितात्मक निबंधों वाली बात या कविता को भी निबंधों में शामिल करना, जहाँ विचार हो, चिंतन हो, वह परंपरा अब नहीं रह गई|

भारतेदु युग में गद्य विधाओं में निबंधों की रचना सबसे अधिक हुई| प्रारम्भ में पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से सम-सामयिक विषयों पर प्रचुर मात्रा में निबंध लिखे गए| इस युग के अधिकांश निबंधकार पत्रकार भी थे| सामन्यतः पत्रकार किसी भी विषय पर लिखते समय पाठकों को केंद्र में रखकर लिखा करते हैं, यहाँ भी लेखकों ने निबंध लिखते समय पाठकों का ध्यान रखा, जिसके कारण लेखक और पाठकों के बीच एक प्रकार की आत्मीयता के भाव का निदर्शन हुआ है| इसके अतिरिक्त इस काल के निबंधों में आत्मव्यजंकता के तत्त्व अधिक परिलक्षित हुए हैं, जिससे निबंधों में रोचकता सी आ गयी है| विषय के दृष्टिकोण से राजनीतिक-सामाजिक सुधार, देश भक्ति, धर्म, आचार-विचार, इतिहास जैसे विषय पर निबंध अधिक लिखे गए|

भारतेंदु युग में भारतेंदु हरिश्चंद्र, प्रताप नारायण मिश्र, बदरीनारायण चौधरी प्रेमघन, लाला श्रीनिवास, राधा चरण गोस्वामी, बालकृष्ण भट्ट आदि प्रमुख निबंधकार हुए|

लाला श्रीनिवास के निबंध 'भारत खंड की समृद्धि' में प्राचीन गौरव एवं वर्तमान हीनावस्था को बड़े ही प्रभावी ढंग से प्रस्तुत किया गया है| कुछ निबंधों में आचार संबंधी विषयों को उजागर किया गया है जिनमें इनका 'सदाचार' निबंध बहुत ही महत्त्वपूर्ण है|

प्रतापनारायण मिश्र के निबंध मूलतः आत्मव्यंजकता के भाव से राग-रंजित हैं| कहीं-कहीं निबंधों में आत्मव्यंजकता गंभीरता खोकर चुलबुलेपन के रूप में व्यक्त हुई है| 'धोखा,' 'वृद्ध', 'खुशामद','दांत', 'बालक' आदि इसी कोटि के निबंध हैं| लेखक ने कुछ निबंधों में आत्मव्यंजकता के साथ-साथ गाम्भीर्य भाव को बनाए रखा है, जिनमें

'आप', 'बात', 'भौं', 'नारी' निबंध प्रमुख हैं| इनके अधिकांश निबंध सुधारवादी दृष्टिकोण से लिखे गए, जिसके कारण ये निबंध समाज के अधिक निकट रहे|

भारतेंदु के निबंधों में भी सुधारवादी दृष्टिकोण का परिचय मिलता है| विशेष रूप से नारी के उत्थान के संबंध में अधिक निबंध लिखे गए, जिसमें 'भ्रूणहत्या' निबंध महत्त्वपूर्ण है| भारतेंदु ने अपने निबन्धों में धर्म, संस्कृति, कला और भाषा, इतिहास, पुरातत्त्व, एवं साहित्य जैसे विषयों को केंद्र बिंदु बनाया| प्रमुख निबंध-'रामायण का समय', 'काशी', 'मणिकर्णिका', 'काश्मीर कुसुम','वैष्णवता और भारतवर्ष', 'बादशाह दर्पण', 'संगीत सार', 'जातीय संगीत' आदि थे| इन निबंधों में भारतेंदु के सूक्ष्म एवं पर्यवेक्षी दृष्टिकोण का परिचय मिलता है, साथ ही बीच–बीच में व्यंग्यपूर्ण कही गयी बातें पाठकों का ध्यान आकृष्ट करती हैं|

बालकृष्ण भट्ट इस युग के प्रमुख निबंधकारों में से एक हैं| इनके निबंध वस्तुपरक रहे हैं, विषयों का प्रतिपादन बहुत ही गाम्भीर्य भाव से हुआ है| विचारों में कहीं-कहीं उनके खीझ, आक्रोश, भावावेश का मिश्रण हुआ है, जिसके कारण निबंधों में गाम्भीर्य भाव का सृजन हुआ है| प्रमुख निबंधों में 'माता का स्नेह', 'आंसू', 'लक्ष्मी', 'प्रतिभा', 'माधुर्य', 'आशा', 'शब्द की आकर्षण शक्ति', 'कालचक्र का चक्कर' इत्यादि है| राजनीति,समाज, समसामयिक समस्याएँ, धर्म, इतिहास इत्यादि उनके निबन्धों के वर्ण्य विषय रहे|

इसके अतिरिक्त इस युग में निबंधकारों के रूप में 'बद्रीनारायण चौधरी प्रेमघन', 'काशीनाथ खत्री', 'राधाचरण गोस्वामी' आदि का नाम उल्लेखनीय है|

द्विवेदी युग में निबंधों की भाषा एवं शैली और भी अधिक प्रौढ़ एवं परिमार्जित हुई| भारतेंदु युग में जहाँ विषयों का प्रतिपादन हास्य-व्यंग्य के माध्यम से हुआ था, वहीं द्विवेदी युग में विषयों का प्रतिपादन प्रौढ़ता तथा गाम्भीर्य भाव से हुआ| समकालीन विचारों को निबंधों से जोड़ा जाने लगा| आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने इस युग के निबंध के तत्त्वों में व्यक्तित्व व्यंजित करने वाले तत्त्वों को महत्त्वपूर्ण बताया और वैचारिक तथा क्रमबद्धता को महत्त्व दिया| भारतेंदु युग में जिन विषयों

यथा समाज, धर्म, इतिहास, राजनीति, कला आदि की प्रमुखता दी गई थी, द्विवेदी युग में उन्हीं सब विषयों को और भी विस्तृत रूप से उजागर किया गया, परन्तु शैली और शिल्प के दृष्टिकोण से अपेक्षाकृत परिमार्जित रूप सामने आया| निबंधों की भाषा में व्याकरणिक शुद्धता पर बल दिया गया एवं शब्दों का मानकीकरण हुआ|

"विषयों की दृष्टि से द्विवेदी-युग के निबंधों में मुख्यतः सात विषयों का प्रतिपादन किया गया है| 1.साहित्य एवं भाषा संबंधी, 2.वैज्ञानिक आविष्कार, 3. पुरातत्त्व एवं इतिहास, 4. भूगोल, 5. जीवन-चरित, 6. अध्यात्म तथा 7. अन्य उपयोगी विषय"[1]

शैली की दृष्टि से इस युग में वर्णनात्मक, विवरणात्मक, भावात्मक तथा विचारपरक निबंध लिखे गए|

द्विवेदी युग में महावीर प्रसाद द्विवेदी, गोविन्द नारायण मिश्र, बालमुकुन्द गुप्त, माधव प्रसाद मिश्र, गोपाल राम गहमरी, सरदार पूरण सिंह, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, बाबु श्याम सुंदर दास, जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी, रामचंद्र शुक्ल, पद्मसिंह शर्मा, पं. कृष्ण बिहारी मिश्र, बाबु गुलाब राय आदि निबंधकार हुए| इसके अतिरिक्त पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से अनेक निबंधकारों ने निबंध लिखे, उनका भी महत्त्व निश्चित रूप से सराहनीय है| ऐसे निबंधकारों में यदि कुछ और नाम का उल्लेख करें तो उनमें पं.गंगा प्रसाद अग्निहोत्री, माधव राव सप्रे, सत्यदेव, गौरीशंकर हीराचंद 'ओझा', काशी प्रसाद जयसवाल, डॉ. पीताम्बर दत्त बरथवाल, बदरीनारायण भट्ट, हनुमान प्रसाद पोद्दार, ब्रजरत्न दास, बनारसी दास चतुर्वेदी, शिवपूजन सहाय, डॉ॰पदुमलाल

पन्नालाल बख्शी, माखनलाल चतुर्वेदी आदि प्रमुख हैं|

चन्द्रशर्मा गुलेरी इस युग के विरल विशिष्ट निबंधकार हैं| 'कछुवा धर्म' तथा 'मारेसि मोहि कुठाँव' इनका प्रमुख निबंध है, जिसमें इन्होंने व्यंग्यप्रधान शैली को प्रमुखता दी है| इनके निबंधों में ऐतिहासिक, पौराणिक, पुरात्व संबंधी जैसे गंभीर विषय को बहुत ही साधारण बातचीत के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है, जो स्वयं में अतुलनीय है|

[1] गंगाबख्त सिंह, *द्विवेदीयुगीन निबंध साहित्य*, लखनऊ विश्विद्यालय, लखनऊ, 1946, पृ.सं. 108

इसी क्रम में निबन्धों की परंपरा में महावीर प्रसाद द्विवेदी एक महत्वपूर्ण कड़ी के रूप में जुड़े हैं| इनके अधिकांश निबंध विचार प्रधान थे| इन्होंने सरस्वती पत्रिका के माध्यम से हिन्दी पाठकों को निबंधों के द्वारा नवजागरण का सन्देश दिया| द्विवेदी ने विषयों का प्रतिपादन वैज्ञानिक दृष्टिकोण से किया| कुछ भावपूर्ण निबंध भी इन्होंने लिखे| शैली के दृष्टिकोण से इनके निबंधों में भाषा का बहुत ही शुद्ध एवं परिमार्जित रूप दिखता है|

इस युग में निबंधकार के रूप में रामचन्द्र शुक्ल का भी अतुलनीय योगदान रहा है| इनके निबंधों में गंभीर मनोभावों की अभिव्यक्ति हुई है अर्थात विचारों की प्रमुखता रही हैं, पर भाव पक्ष का भी समान ध्यान रखा गया हैं अर्थात निबंधों में बुद्धि तथा ह्रदय का बहुत ही संतुलित योग लक्षित होता है| पं. केशवप्रसाद मिश्र के शब्दों में- "उनकी भावुकता सदा बुद्धि के प्रकाश में पनपी|"[1] निबंधों में क्रोध, चिंता, भय, ईर्ष्या, श्रद्धा, भक्ति जैसे आदि मनोभावों का बहुत ही गंभीर विवेचन किया गया है| इसके साथ ही काव्यशास्त्र पर वैज्ञानिक दृष्टिकोण से विचार किया गया है|

इसके अतिरिक्त इस युग में अन्य भाषाओं के निबन्धों का हिंदी में अनुवाद हुआ|

छायावाद युग तक आते-आते निबंध और भी अधिक गंभीर चिंतन से जुड़ गए| इस युग में आत्मनिष्ठ तथा भावात्मक दोनों ही प्रकार के निबंधों का लेखन प्रचुर मात्रा हुआ| ये वह दौर था जहाँ भाषा क्रमशः परिमार्जित एवं परिनिष्ठित हो रही थी| साथ ही विषय-वस्तु भी बदल रहे थे| स्वयं जयशंकर प्रसाद ने कई ऐसे निबंध लिखे जो उस समय की आवश्यकता थी और जो काफी समय तक लेखकों के लिए प्रेरक भी रही| उन्होंने कई गंभीर वैचारिक निबंध लिखे| इनके प्रमुख निबंध संग्रह 'काव्यकला', 'रहस्यवाद', 'यथार्थवाद', 'छायावाद', तथा 'रस' निबंध हैं जिनमें छायवाद की सूक्ष्म सौन्दर्य-चेतना, कल्पनाप्रियता, भारतीय संस्कृति चेतना, प्रकृति एवं धर्म आदि जैसे विषयों को केंद्र में रखा है| इस युग के निबंधकारों में एक बड़ा नाम बाबु गुलाब राय का है, हालाँकि ये द्विवेदी युग से लिख रहे थे| इन्होंने गंभीर

[1] पं.केशवप्रसाद मिश्र, ना.प्र.प., संवत् 1998, अंक-1

मनोवैज्ञानिक शैली के साथ-साथ आत्मपरक शैली में भी निबंध लिखा| प्रमुख निबंध संग्रहों में "ठलुआ कलब', 'फिर निराशा क्यों', 'मेरी असफलताएँ' आदि हैं|

इस युग में चतुरसेन शास्त्री के निबंध भी उल्लेखनीय रहे हैं| इनके अधिकांश निबंध राष्ट्रीय भावना से ओत प्रोत हैं| इन्होंने बहुत ही उत्कृष्ट, सुविचारित एवं प्रेरक निबंध लिखें| इसके अतिरिक्त निबंधकारों में माखनलाल चतुर्वेदी, श्री चतुरसेन शास्त्री, राय कृष्ण दास, श्री वियोगी हरि, डॉ रघुवीर सिंह, सूर्यकांत त्रिपाठी निराला, श्री शांति प्रिय द्विवेदी, राहुल सांकृत्यायन, पं. नन्दुलारे बाजपेयी, कन्हैया मिश्र प्रभाकर आदि प्रमुख हैं|

पं.हजारी प्रसाद द्विवेदी निर्विवाद रूप से छायावादोत्तर निबंधकारों में सर्वश्रेष्ठ हैं| इनके निबंधों की आधारभूमि संस्कृति है| चर-अचर जगत को माध्यम बनाकार एक मनोरम भावभूमि की सृष्टि करते हुए भारत के अतीत एवं वर्तमान संस्कृति जीवन की सरसता को छू लेना हजारी प्रसाद द्विवेदी के लिए एक सहज व्यापार है| इनके निबंधों में संस्कृति तथा भाषा जैसे विषय पर बार-बार वैचारिक मंथन किया गया| 'अशोक के फूल', 'कल्पलता', 'मध्यकालीन धर्मसाधना', 'विचार और वितर्क', 'कुटज' 'साहित्य सहचर' आदि निबंध संग्रह प्रमुख हैं| इन्होंने प्रचुर मात्रा में ललित निबंध लिखा, जिसके कारण इन्हें ललित निबंध के पुरोधा कहा जाता है| शैली के दृष्टिकोण से द्विवेदी जी के निबंधों में भावात्मक, वैचारिक, आत्म-व्यंजक, कथात्मक, वर्णनात्मक तत्त्व की प्रमुखता रही है| आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के बाद हजारीप्रसाद द्विवेदी ने निबंध साहित्य को एक नया मोड़ दिया|

'महादेवी वर्मा अलंकृत, भावमय, विचार-पूर्ण एवं प्रांजल गद्य रचना में अद्वितीय हैं|'[1] इनके निबंधों में आत्मव्यंजकता और व्यक्तित्व विधायक तत्त्व का एक अद्‌भुत मिश्रण व समावेश देखने को मिलता है| 'श्रृंखला की कड़ियाँ', 'क्षणदा', 'साहित्यकार की आस्था तथा अन्य निबंध', 'संकल्पिता', 'भारतीय संस्कृति के स्वर' आदि प्रमुख निबंध हैं|

[1] रामचन्द्र तिवारी, *हिंदी का गद्य साहित्य,* विश्विद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, एकदश संस्करण, 2016, पृ-90

कुल मिला कर हिंदी निबंधों में धीरे-धीरे अनेक प्रकार की विशेषताएं, भाषा शैली, वस्तु-वैविध्य और अन्य तत्त्व जिनकों हम निबंधों के प्रमुख तत्त्वों के रूप में देखते हैं उनका समावेशन होता चला गया और निबंध विधा एक स्वतंत्र तात्त्विक विवेचना की विधा बन गयी एवं साहित्यक दृष्टि से उसे एक स्वतंत्र विधा के रूप में स्वीकृति मिली|

छायावादोत्तर हिंदी निबंध साहित्यकारों में डॉ. सम्पूर्णानन्द, डॉ. राम प्रसाद त्रिपाठी, शिवपूजन सहाय, परशुराम चतुर्वेदी, सियारामशरण गुप्त, श्री वियोगी हरि, डॉ.धीरेन्द्र वर्मा, पांडेय बेचन शर्मा उग्र, रामवृक्ष बेनीपुरी, इलाचंद्र जोशी, यशपाल, वासुदेव शरण अग्रवाल, जैनेन्द्र कुमार, डॉ. विनय मोहन शर्मा, कन्हैया लाल मिश्र प्रभाकर आदि महत्त्वपूर्ण निबंधकार हुए|

इसी क्रम में अज्ञेय एक ऐसे निबंधकार के रूप में उभरे जिन्होंने अपने निबंध में संस्कृति, समाज, परंपरा, दिक् व काल, शिक्षा, तत्कालीन परिस्थिति यां, आधुनिकता एवं परम्परा आदि जैसे विषयों को केंद्र बिंदु बनाया| कुछ विद्वानों ने अज्ञेय को हजारी प्रसाद द्विवेदी की ही भांति ललित निबंधों के पुरोधा कहा है| द्विवेदी जी की भांति वे भी इतिहास के भी अच्छे ज्ञाता रहे हैं इसलिए उनके निबंधों में भी इतिहास एवं संस्कृति का एक अद्‌भुत समन्वय देखने को मिलता है|

2.3 अज्ञेय के निबंध का तात्त्विक विवेचन

अज्ञेय का नाम लेते ही सर्वप्रथम हमारे मन मस्तिष्क में जो छवि उभरती है वह मूलतः कवि की ही होती है, बहुत बाद में हम उन्हें एक निबंधकार के रूप में देखते हैं| निबंधकार के रूप में इन्हें बहुत ही एक सीमित वर्ग ही जानता है| अन्यथा हम उन्हें सदैव ही एक कवि व कहानीकार व उपन्यासकार के रूप में ही पढ़ते रहे हैं| परन्तु बहुमुखी प्रतिभा के कलाकार अज्ञेय का अनुभव संसार इतना विस्तृत है कि इस विस्तृत अनुभव को अभिव्यक्त करने के माध्यम भी इनके बहुआयामी हैं| इसमें कोई संदेह नहीं है कि अज्ञेय की साहित्य-यात्रा निरंतर चरमोत्कर्ष को प्राप्त करती रही है|

यदि उनके व्यक्तित्व एवं कलात्मक प्रतिभा की बात की जाए तो वे स्वभाव से विद्रोही थे और भाषा, साहित्य, व्यक्ति स्वाधीनता, कला तथा संस्कृति के प्रति प्रतिबद्धता और पारम्परिक रूढ़ियों व अंधविश्वासों के प्रति नकार आदि विषय उनके रचना के प्रमुख अंग रहे हैं| उनका सृजन और चिन्तन, रचना-कर्म के श्रेष्ठतम शिखरों का स्पर्श करता है। वह मानवीय व्यक्तित्व की स्वाधीनता के लिए, स्वाधीन चिन्तन के लिए जीवन-भर संघर्ष करते रहे। ऐसे संघर्षशील रचनाकार सच्चे अर्थों में समाज, संस्कृति के निर्माता होते हैं। अज्ञेय के व्यक्तित्व एवं लेखनी शैली पर रामस्वरूप चतुर्वेदी ने एकदम सटीक व्यख्या की हैं-

"हिंदी साहित्य में पहली बार अज्ञेय का व्यक्तित्व ऐसा मिलता है, जो रचनाकार भी वैसा ही उत्कृष्ट जैसा की व्यवस्थापक| प्रायः समूचे नए साहित्य की व्यवस्था में केंद्रीय व्यक्तित्व बने रहने पर भी अज्ञेय की रचनाशीलता में कहीं कोई कमी नहीं आयी है| यह एक विलक्षण स्थिति है जहाँ व्यक्तितव के दोनों पक्षों ने एक-दूसरे को प्रखतर और समृद्धतर बनाया है| यह पहले भी संकेत किया गया है रचना और साहित्य-चिंतन में के दोनों पक्ष अज्ञेय के कृतित्व में घुल-मिल गए हैं| इस प्रकार रचना, साहित्य-चिंतन और साहित्यक व्यवस्था- ये तीनों प्रतिभाएं समान उत्कृष्टता के साथ एक ही व्यक्तित्व में समन्वित हुई है-अपने आपमें यह एक असाधारण और स्पृहणीय स्थति है|"[1]

अज्ञेय के लगभग सभी निबंध स्वाधीनता-प्रेम से अनुप्राणित हैं और यह स्वाधीनता केवल राजनीतिक सीमा में बँधी हुई नहीं हैं बल्कि इसका दायरा इतना व्यापक हैं कि उसमें यथार्थ, संस्कृति, इतिहास और कला, पत्रकारिता और सम्पादन, दर्शन एवं साहित्य जैसे विषय समा जाते हैं। इस प्रकार न तो उनका व्यक्तित्व खंडित था और न ही उनका चिन्तन। उन्होंने अपने निबंधों में अनेक विषयों पर चर्चा की है, इसका कारण बताते हुए वे कहते हैं प्रत्येक विषय एक दूसरे से पारस्परिक रूप से जुड़े होते हैं, किसी एक विषय की व्याख्या कर अन्य विषय को छोड़ना उनके लिए एक

---

1. डॉ रामस्वरूप चतुर्वेदी, *हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास*, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली, छठा संस्करण-2011, पृ.112

असमंजस की स्थिति पैदा करता है, उनके शब्दों में "मैंने सोचा कि 'यथार्थ' के बारे में मेरी दृष्टि क्या रही उसकी चर्चा करूँ, तुरंत मैंने पाया कि भाषा की समस्या की चर्चा किए बिना मैं यथार्थ की चर्चा नहीं कर सकता| दूसरी तरफ मैंने पाया कि समाज की चर्चा किए बिना भी नहीं रह सकता; समाज की चर्चा करता हूँ तो फिर समाज की समस्याओं पर चर्चा अनिवार्य हो जाती है; संस्कृति की चर्चा अनिवार्य हो जाती है| संस्कृति की चर्चा की ओर बढ़ता हूँ तो धर्म और परंपरा की चर्चा आवश्यक हो जाती है; फिर दर्शन की समस्या उभर आती हैं; मनुष्य की क्या अवधारणा हैं उसकी चर्चा आवश्यक हो जाती है| मनुष्य की चर्चा करता हूँ तो स्वाधीनता की चर्चा अनिवार्य हो जाती है; स्वाधीनता की चर्चा करता हूँ तो राजनीति की और समकालीन समाज की, सामाजिक यथार्थ की चर्चा आवश्यक हो जाती है| इसलिए कहीं से भी आरम्भ करता हूँ तो बहुत से एक दूसरे से जुड़े हुए प्रश्न सामने आ जाते हैं; कहीं किसी को काट कर अलग रख देना संभव नहीं है|"[1]

अज्ञेय उन भारतीय रचनाकारों में से हैं जिन्होंने बीसवीं शताब्दी में भारतीय संस्कृति, भारतीय परम्परा, भारतीय आधुनिकता के साथ-साथ साहित्य-कला-संस्कृति, भाषा की बुनियादी समस्याओं, चिन्ताओं, प्रश्नाकुलताओं से पाठकों का साक्षात्कार कराया है। अस्मिता की तलाश, व्यक्तित्व की खोज, प्रयोग-प्रगति, परम्परा-आधुनिकता, बौद्धिकता, आत्म-सजगता, कवि-कर्म में जटिल संवेदना की चुनौती, रागात्मक संबंधों में बदलाव की चेतना, रूढ़ि और मौलिकता, आधुनिक संवेदन और सम्प्रेषण की समस्या, रचनाकार का दायित्व, नए राहों का अन्वेषण, पश्चिम से खुला संवाद, औपनिवेशिक आधुनिकता के स्थान पर देशी आधुनिकता का आग्रह, नवीन कथ्य और भाषा-शिल्प की गहन चेतना, संस्कृति और सर्जनात्मकता आदि तमाम विषयों को लेखक ने किसी न किसी स्तर पर निबंधों के केन्द्र में लाया है|

---

[1] . अज्ञेय, *जोग लिखी,* राजपाल एंड सन्स, कश्मीरी गेट, दिल्ली, प्रथम संस्करण 1977, पृ.14

उन्होंने नयी रचना-स्थिति की चुनौतियों पर अनेक कोणों से विचार किया है। वस्तुतः "अज्ञेय उन सृजनशील लेखकों में हैं जिन्होंने साहित्यिक सृजनशीलता और रचनात्मक भाषा जैसे मुद्दों पर संवाद की इच्छा रखते हुए संस्कृति-संवाद जैसा माहौल बनाने के लिए प्रयत्न किया है और बहुत कुछ एक विचारक की तरह अपने भीतर और बाहर की संकट को परिभाषित करने की कोशिश भी की है| वह उन विचारकों में हैं जो वैयक्तिक स्वतंत्रता और कला स्वायत्तता का लगातार पक्ष लेते रहे हैं और उन रचनाकारों में हैं जो रचना में अद्वितीयता और सम्प्रेषण के द्वैत से जब-तब उलझते भी रहे हैं| चिंतन का सिलसिला बनाये रखने के लिए ऐसी अविच्छिन्न निष्ठा कम सर्जनात्मक लेखकों में पायी जाती है|"[1]

अज्ञेय के निबंधों को किसी भी सीमा रेखा व विभाजन रेखा में विभाजित करना या उनके निबंधों को किसी निर्दिष्ट खाके में बांधना, उनके निबंधों के साथ अन्याय करना होगा क्योंकि इनके निबंध अपने अंदर कई गुणों समाहित किए हुए हैं| इस संदर्भ में-

"आत्मनिष्ठ और वस्तुनिष्ठ दो भेद करके अज्ञेय के निबंधों की व्याख्या करना, गलत दिशा में चल पड़ना है| वे कहाँ 'स्व' को छोड़कर सर्वमय हो जाते हैं- यह रेखा खींचना भी कठिन है| क्योंकि उनके निबंध भाव-विचार कला कर्म की उन्मुक्तता का आकाश छूते हैं| उनमें एक साथ सौन्दर्य, शोध और आनंद का प्रवाह है| विदग्ध व्यंग्य है और नए चिंतन की धुप खिली हुई है-इसलिए इन निबंधों में उनकी पुरी-आत्मकथा या जीवन कथा का रस रोमांच मौजूद है|"[2]

परन्तु फिर भी मौटे तौर पर इनके निबंधों को समझने हेतु तीन भागों में विभाजित करके देखा जा सकता है, पहला 'वैचारिक निबंध' व 'आलोचनात्मक निबंध', दूसरा 'ललित निबंध' व 'व्यक्तिव्यंजक निबंध' एवं तीसरा 'आत्मपरक निबंध'| इन्होंने कुछ निबन्ध 'वात्स्यायन' के नाम से, कुछ निबन्ध 'कुट्टिचातन' के नाम से और कुछ निबन्ध 'अज्ञेय' के नाम से लिखे है, जिसकी अपनी एक अलग ही

---

[1] . डॉ.परमानन्द श्रीवास्तव, *आलोचना(62-63), आलेख*, पृ.सं.29

[2] कृष्णदत्त पालीवाल, *आलोचक अज्ञेय की स्थिति*, वाणी प्रकाशन, 2011, पृ.83

विशेषता है। 'त्रिशंकु', 'स्त्रोत एवं सेतु', 'अद्यतन', 'युग सन्धियों पर', 'संवत्सर', 'धार और किनारे', 'केंद्र और परिधि', 'आलवाल' इत्यादि वैचारिक निबन्ध है। इन निबन्ध संग्रहों में साहित्य के विविध समस्याओं के साथ सामाजिक, सांस्कृतिक शिक्षा, विज्ञान, भाषा, आधुनिकता व परम्परा की समस्याओं से संबंधित गहन एवं गम्भीर विचार-विमर्श किए गए है| सृजनात्मक स्तर पर इन निबंधों में कल्पना का पुट अपेक्षाकृत कम है| निबन्ध श्रृंखलाबद्ध, तर्कपुष्ट विवेचन के साथ धीरे-धीरे प्रवाहमान हुई है, पर बड़े ही संयत रूप से।

'सबरंग और कुछ राग', 'लिखि कागद कोरे', 'कहाँ है द्वारका', 'छाया का जंगल' आदि निबन्ध संग्रहों में आत्माभिव्यक्ति की प्रधानता है। जिसे ललित निबन्ध कहा जा सकता है। इनमें काव्यात्मक भाषा का प्रयोग किया गया है। कल्पना प्रवणता, मन की उन्मुक्त भटकन, गूढ़ज्ञान, सम्पदा, तल्लीनता आदि गुण समाहित हैं। ये निबन्ध स्वाधीन, वैयक्तिक, पृथक और सशक्त अभिव्यक्ति वाले ऐसे निबन्ध है जो विचार प्रधान और भावात्मक निबन्धों के मध्य स्थित लगते है। ये निबंध विचारों में डूबे रहने के बावजूद भी आत्मा के तल पर उतने ही अवस्थित हैं। इसके अतिरिक्त रचनाकार ने आत्मपरक निबंध लिखा है जिनमें उन्होंने स्वयं अपने बारे में और कृतियों के संबंध में कुछ बातें स्पष्ट की गई हैं, जो तार्किक आधार पर की गई हैं| आत्मनेपद के अधिकांश निबन्ध इसी कोटि में आते हैं अर्थात् इस निबन्ध संग्रह में लेखक ने अपनी सृजन प्रक्रिया को काव्य, आख्यान, आलोचना, स्थिति और मन के संदर्भ में स्पष्ट किया है। आत्मनेपद न केवल अज्ञेय की रचना प्रक्रिया को रेखांकित करने वाली एक आत्मचेतन रचना है बल्कि यह एक रचनाशील मानस में उठने वाले सहज स्वाभाविक प्रश्न है जो कला, साहित्य से बहुत गहरे तक जुड़ा हुआ है। इस प्रकार "विचार एवं चिन्तन प्रधान तथा आत्मव्यंजक एवं ललित दोनों ही प्रकार के निबन्धों को मिला देने पर अज्ञेय का सजग, अनुभव समृद्ध और संवदेनशील व्यक्तित्व उभरकर सामने आता है। इसमें संदेह नहीं है कि 'अज्ञेय' हिन्दी के एक सशक्त निबन्धकार है। निबन्ध शिल्प को उन्होंने एक नया आयाम दिया है। उनके निबन्ध उनकी जिज्ञासा वृत्ति से सीधे जुड़े हैं।

इस वृत्ति की चरम परिणति जीवन की सार्थकता की उपलब्धि में हुई है। उनके निबन्ध इस उपलब्धि के साक्षी है।''[1]

2.3.1 **वैचारिक निबंध**

अज्ञेय के वैचारिक निबंधों में 'त्रिशंकु', 'स्त्रोत एवं सेतु', 'अद्यतन', 'युग सन्धियों पर', 'धार और किनारे', 'केंद्र और परिधि', 'आलवाल' शामिल हैं| इन निबंधों में वैक्तिक-स्वाधीनता, साहित्य एवं समकालीन समाज, लेखक एवं परिस्थिति, कविता, कहानी, उपन्यासों की दशा, संस्कृति, परंपरा, भाषा, दिक् व काल, आदि विषयों पर गंभीर रूप से विचार किया गया है| "निबंधों आलोचनाओं में देशी-विदेशी साहित्य की मूल चेतना, परिवेश, लेखक और गृहीता की स्थिति, वर्त्तमान की चुनौतियां, राग संबंधों के बदलाव, नवीन यथार्थ के उदय, आधुनिकता, समकालीनता, प्रासंगिकता तथा नए साहित्य की प्रवृतियों, प्रश्नों की व्याख्या है| इन चिंतनपरक और आत्मपरक निबंधों में अज्ञेय के चिंतन-क्रम के उन मूल बिन्दुओं को रेखांकित किया जा सकता है, जो उनके समस्त साहित्य में अंतर्व्याप्त है| उनके ज्यादातर निबंध युग की मनोभूमिकाओं, रचनाकार की मनः स्थितियों का सूक्ष्म विश्लेषण है|"[2]

सांस्कृतिक चिंतन पर आधारित 'त्रिशंकु' अज्ञेय के महत्त्वपूर्ण निबंध संग्रहों में से एक निबंध संग्रह है| अज्ञेय की निबंध यात्रा इसी निबंध संग्रह से प्रारम्भ हुई| इसका प्रकाशन 1945 में हुआ| शीर्षक रूप में आठ निबंध हैं, किन्तु पढ़ने पर सोलह निबंध हैं, जिनमें आठ संवादपरक निबन्ध हैं| ये निबंध इस प्रकार हैं- (i)संस्कृति और परिस्थिति, (ii)कला का स्वभाव और उद्देश्य, (iii) रुढ़ि और मौलिकता,(iv) पुराण और संस्कृति, (v) परिस्थिति और साहित्यकार, (vi) संक्रान्तिकाल की कुछ साहित्यिक समस्याएँ, (vii) चेतना का संसार, (viii) परिशिष्ट| इन निबंधों को लिखने तथा प्रकाशन के बीच का अंतराल काफी लम्बा रहा है, लगभग तीस वर्ष का अर्थात

---

[1] रामचन्द्र तिवारी, *हिंदी का गद्य साहित्य,* विश्विद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, एकदश संस्करण, 2016, 808

[2] कृष्णदत्त पालीवाल, *आलोचक अज्ञेय की स्थिति*, वाणी प्रकाशन, 2011, पृ.88

तीन दशक| पर फिर भी ये सारे निबंध तब भी उतने ही प्रासंगिक थे जितने कि आज| 'त्रिशंकु' में लेखक ने संस्कृति, रूढ़ि एवं परम्परा, पुराने सामाजिक संगठन के टूटने, मशीनी युग का आगमन, जीवन के यांत्रिकीकरण होने जैसे विषयों पर अपने विचारों का उदघाटन किया है| प्रथम अध्याय 'संस्कृति और परिस्थिति' में हमारे जीवन से किस प्रकार जीवंत व सजीव संस्कृति, परम्परा मिटती जा रही है, पर ध्यान आकृष्ट किया गया है| इसका कारण वे दैनंदिन बढ़ रहे यांत्रिकीकरण, विघटित होती परंपरा, पुराने सामाजिक संगठन के टूटने को मानते हैं| लेखक के अनुसार मशीनी युग के आने से व्यक्तियों के जीवन से लोकगीतों, लोकनृत्यों का स्थान रेडियो, ग्रामोफोन, सिनेमाघरों ने ले लिया है, दस्तकारियों की जगह मशीनों ने ले ली है, फूस के छप्पर के जगह कंकरीट के जंगल आ गए हैं, अब जीवन न तो देहाती रह गया है न ही आधुनिक रह गया है| लेखक चिंतित हैं कि व्यक्तियों के जीवन में बुनियादी मूल्य नाम की कोई चीज नहीं रह गई है| आगे वे कहते है आज का व्यक्ति एक प्रतिस्पर्द्धी समाज में जी रहा है जहाँ समस्त व्यक्ति मानों एक प्रतियोगिता में भाग रहे हों, पर क्यूँ भाग रहे- पूछने पर इसका जवाब वे भी शायद ही दे पाएं, बस इसलिए भाग रहे हैं कि सब भाग रहे हैं और रुक नहीं सकते| इस संबंध में लेखक ने अपने यात्रा संस्मरण 'एक बूंद सहसा उछली' में भी अपनी चिंता व्यक्त की है-

"हाँ, यन्त्र ने साधन बहुत दिए हैं, मार्ग बहुत खोले हैं; हर व्यक्ति को यह दिखा दिया है कि वह तनिक और लपके तो कुछ और पा लेगा, तनिक और चले तो कहीं पहुँच जाएगा! और इसलिए सारा जीवन लपककर कुछ पा लेने का, दौड़कर कहीं पहुँच जाने काएक अंतहीन प्रयास हो गया है....पर बहुत से यूरोपियन पहचानने लगे हैं कि आकांक्षा की प्रेरणा से भी बलवती निरे यन्त्र की अनिवार्यता होती जा रही है: दौड़ इसलिए नहीं है कि दौड़ना चाहते हैं, इसलिए है कि रुक नहीं सकते|"[1]

मानव एक रोबट की तरह यन्त्र के रूप परिवर्तित हो चूका है, जिनकी भावनाएं भी उसकी तरह ही यांत्रिक, कृत्रिम हो चुकी है| उनके रागात्मक संबंधों की

[1] .अज्ञेय, *एक बूँद सहसा उछली , भारतीय ज्ञानपीठ,* नई दिल्ली, छठा संस्करण,-2008, पृ.22

प्रणालियां बदल रही हैं| इस पर अज्ञेय ने अपनी कृति 'आधुनिक हिंदी साहित्य' में कहा है-"हमारे मूल राग-विराग नहीं बदले, प्रेम अब भी प्रेम हैं, और घृणा अब भी घृणा, यह साधारणतया स्वीकार किया जा सकता है| पर यह भी ध्यान में रखना होगा कि राग वही रहने पर भी रागात्मक संबंधों की प्रणालियां भी बदल गई हैं|"[1]

उपरोक्त पंक्तियों के अनुसार यह स्पष्ट है कि लोगों के मध्य पारस्परिक संबंध नाम की कोई चीज नहीं है| हवाई जहाज, बसों, मोटरों ने भौगोलिक स्तर पर दूरियों को तो कम किया है, पर रागातात्मक स्तर पर उतना ही दूर किया है| सब कुछ कृत्रिम हो गया है, रहन-सहन, बात-व्यवहार, सब कुछ और इन्हीं सब कारणों से हमारे जीवन से हमारी संस्कृति विलुप्त होती जा रही है| लेखक के शब्दों में–"पुराने समाजिक के टूटने से उस की संजीव संस्कृति और परंपरा मिट गयी है-हमारे जीवन में से लोकगीत, लोकनृत्य, फूस के छप्पर और दस्तकारियाँ क्रमशः निकल गयी है और निकलती जा रही हैं, और उनके साथ ही निकलती जा रही है वह चीज जिसके ये केवल एक चिह्न मात्र हैं-जीवन की कला, जीने का व्यवस्थित ढंग जिसके अपने रीति-व्यवहार और अपनी ऋतुचर्या थी-ऐसी ऋतुचर्या, जिस की बुनियाद जाति के चिर-संचित अनुभव पर कायम हो| बात केवल इतनी नहीं है कि हमारा जीवन देहाती न रहकर शहरी हो गया है, जीवन का ढंग ही नहीं बदला, जीवन भी बदला है| अब समाज न देहाती रहा है, न शहरी, अब उसका संगठन ही नष्ट हो गया है| उसे ऐक्य में बाँधने वाला कोई सूत्र नहीं है; जो जहाँ सुविधा पाता है वहां रहता है, अपनी पड़ोसियों से उनका कोई जीवित संबंध, धमनियों के प्रवाह का संबंध नहीं रहता; संबंध रहता है, भौगोलिक समीपता का, बिजली, पानी, मोटर ट्राम की मारफ़त|

निसंदेह पुराने संगठन के अवशेष भारत में अनेक स्थलों पर मिलेंगे, जहाँ अभी मोटर-लारी, सिनेमा और रेडियों नहीं पहुंचे हैं| इन स्थलों में जीवन अब भी एक कला है| लेकिन बहुत देर तक नहीं रहेंगे| यंत्रयुग की प्रगति का निर्मम हल पुरानी

[1] . सच्चिदानंद वात्स्यायन, आधुनिक हिंदी साहित्य, नैशनल पब्लिसिंग हाउस,1942, पृ-229-230

मिट्टी उपाटता हुआ चला जा रहा है|"[1] अतः मशीनी युग के आने से लोगों के जीवन में सजीव जैसा कुछ भी नहीं रहा है लोगों के जीवन का स्तर काफी छिछला एवं सतही हो गया है|

लेखक ने बढ़ रही बेरोजगारी पर भी अपनी चिंता व्यक्त करते हुए कहते हैं हम जितना यंत्र-तंत्र से लैश हो रहे हैं उतना ही रोजगारों को भी मार रहे हैं| उनके अनुसार यंत्रों, उपकरणों के आगमन से बेरोजगारी बढ़ रही है| अब पांच-पांच व्यक्तियों का कार्य एक ही मशीन कर रहा है और उत्पादन भी बड़े पैमाने में हो रहा है, जिसने रोजगार को पूरी तरह से मार दिया है| पहले लोग तरह-तरह के कार्य करते थे, परन्तु अब मशीनों के आ जाने से लोगों के पास versatile कार्य के स्थान पर एक जैसा काम रहा गया है| लगातार कई वर्षों तक एक जैसा कार्य करते-करते लोग अनुभवहीन हो रहे हैं, गुणवत्ता का स्तर घट रहा है| लेखक पहले के और आज के मील मजदूर एवं दस्तकार के मध्य तुलना करते हुए कहते हैं-"....इसका मिलान कीजिए पुराने लुहार से-अपने वर्ग का कितना अनुभव-संचित ज्ञान, कितनी लम्बी परम्परा उस की मेहनत को अनुप्राणित करती थी! वह सब अब नहीं रहा, आज के श्रमिक के लिए जीवन का अर्थ एक निरर्थक यांत्रिक क्रिया की बुद्धिहीन नवरात आवृति! पुराना दस्तकार निरक्षर हो कर भी शिक्षित और संस्कृत भी होता था; आज का मजदूर जासूसी किस्से और सिनेमा-पत्र पढ़कर कर भी घोर अशिक्षित है| उस की जीवन की शिक्षा एक अकेली अर्थहीन यांत्रिक क्रिया तक सीमित है|"[2]

उपरोक्त कथित व्यक्तव से स्पष्ट है कि यांत्रिकीकरण का प्रभाव आर्थिक जीवन में ही नहीं पड़ा बल्कि आर्थिक जीवन से होते हुए सामाजिक, सांस्कृतिक जीवन में भी पड़ा है| सांस्कृतिक जीवन के पतन का एक कारण भाषा एवं साहित्य का सतही होना है| क्योंकि "संस्कृति का मूल आधार भाषा है, भाषा का चरम उत्कर्ष साहित्य में प्रकट

---

[1] अज्ञेय, *त्रिशंकु*,सरस्वती प्रेस, बनारस,1945, पृ.16

[2] वही, पृ.18

होता है| अतः साहित्य का पतन संस्कृति का पतन और अंततः जीवन का पतन है- मशीनी युग हमारे जीवन को सस्ता, घटिया और अर्थहीन बना रहा है|"[1]

आगे बढ़ते हुए लेखक ने कला क्या है, इसकी उत्पत्ति कैसे हुई, इस पर वे कहते हैं "कला सामाजिक अनुपयोगिता की अनुभूति के विरुद्ध अपने को प्रमाणित करने का प्रयत्न-अपर्याप्तता के विरुद्ध विद्रोह- है|"[2] उनके अनुसार कला एक आत्मदान है, व्यक्ति अपने को सिद्ध प्रमाणित करने की चेष्टा में सम्पूर्णता की ओर बढ़ता है "कला सम्पूर्णता की ओर जाने का प्रयास है, व्यक्ति की अपने को सिद्ध प्रमाणित करने की चेष्टा है| अर्थात वह अंतत: एक आत्मदान है जिसके द्वारा व्यक्ति का अहम अपने को अक्षुण रखना चाहता है|"[3]

लेखक ने इस निबंध संग्रह में टी. एस. इलियट के निबंध 'tradition and individual talent' का भावानुवाद ''रूढ़ि और मौलिकता' के नाम से किया है| इलियट के निबंध का पूरी तरह से अक्षरश: अनुवाद तो नहीं किया गया है| उसके मूल भावों का अनुवाद कर उसे भारतीय साहित्य के संदर्भ में रख कर रूढ़ि क्या है, परम्परा का साहित्य में क्या स्थान रहा है, जैसे विषयों पर विचार किया गया है, जो कि अतुलनीय है| आधुनिक साहित्य में विशेषकर आलोचना में जहां परंपरा को नकारना so called फैशन हो गया था, वहीं लेखक ने आधुनिक साहित्य की परंपरा के महत्त्व को प्रतिपादित किया है| उनका मानना है "कोई भी कला वस्तु, चाहे कितनी भी नयी क्यों न हो, ऐसी वस्तु नहीं जो अकस्मात अपने-आप 'घटित' हो गयी है; वह ऐसी वस्तु है, जो अपने आप में नहीं, अपने पूर्ववर्ती तमाम कलावस्तुओं की परंपरा के साथ घटित हुई है| जितनी ही वह नयी है, उतनी ही महत्त्वपूर्ण घटना कलावस्तुओं की परम्परा के साथ घटित हुई है; उतना ही परम्परा के साथ उसका

[1] वही, पृ.16

[2] वही, पृ.26

[3] वही, पृ.27

संबंध का अन्वेषण करना प्रासंगिक हो गया है!"[1] इस प्रकार वे परंपरा व अतीत का वर्त्तमान के साथ तारतम्य को दर्शाते हैं| पर वे भी परम्परा के अन्धानुकरण को नकारते हैं "परंपरा का निकट परिचय उसका अन्धानुकरण नहीं है, बल्कि उसे विकसित करने की तत्परता है|"[2] उन्होंने परम्परा की एक बहुत ही सुविकसित एवं सुस्पष्ट परिभाषा देते हुए कहा है कि "वह वर्त्तमान के साथ अतीत की सम्बद्धता और तारतम्य का नाम है|"[3]

समाज में अधिकांशतः लोगों के मध्य यह मान्यता रही है कि जो लोग जितने अधिक संस्कृति की ओर उन्मुख होते हैं वे उतना ही रूढ़िवादी होते जाते है, पर लेखक ने इस संग्रह के 'पुराण और संस्कृति' नामक निबंध में संस्कृति को गतिदायिनी अर्थात गति प्रदान करने वाली स्रोत के रूप में देखा है "ऐसा होना अनिवार्य कदापि नहीं है- संस्कृति का महत्त्व ठीक समझने पर वह गतिदायिनी ही होती है, गतिनाशिनी नहीं|"[4] इसके अतिरिक्त पुराण साहित्य के महत्त्व को दर्शाते हुए कहते है "किसी भी देश के जीवन के गहनतम रहस्य तक पहुँचने के लिए उसका पुराण साहित्य ही सबसे अच्छी कुंजी है, कि उसी में वे स्वप्न चित्र मिल सकते हैं, जिनका विभिन्न व्यक्ति अपनी-अपनी रूचि, दीक्षा, योग्यता और संस्कारों के आधार पर परिष्कार करते हैं| पुराण ही वह पहली सांस्कृतिक इकाई है जिस में से जीवन की बहुरूपता प्रस्फुटित हुई है|"[5] आगे उन्होंने इस निबंध संग्रह में परिस्थिति और साहित्यकार, संक्रान्तिकाल के कुछ महत्त्वपूर्ण समस्याओं पर अपने विचार रखे हैं| कुल मिलाकर इस निबंध संग्रह में संस्कृति, कला का स्वाभाव एवं उद्देश्य, परंपरा, भाषा का सतही होना आदि विषयों पर गहन रूप से विचार किया गया है, इन बौद्धिक विचार का प्रवाह तर्कपूर्ण, श्रृंखलाबद्ध रूप से हुआ है, जो पाठक को बार-बार बहुत गहरे तक सोचने के लिए बाध्य करती है|

---

[1] वही, पृ-35

[2] वही, पृ.44

[3] वही,पृ.44

[4] वही, पृ.55

[5] वही,पृ.49, इसके साथ ही कहते हैं-"बिना पुराणों के अध्ययन के किसी भी देश के जीवन की सांस्कृतिक भित्ति तक नहीं पहुंचा जा सकता है|

'स्रोत और सेतु' निबंध संग्रह का प्रकाशन 1978 में हुआ| इसमें कुल आठ निबंध हैं- 1.मेरी स्वाधीनता:सब की स्वाधीनता, 2.गुण का अस्वाद, 3.जीवन के गुणाधार, 4.सभ्यता का संकट, 5.मिथक, 6.भाषा और समाज, 7.समग्र परिवेश की राजनीति, 8.व्यक्ति और व्यवस्था| उपरोक्त विषय ऐसे हैं जिसका मनुष्य, समाज, जीवन से बड़ा ही गहरा संबंध है| तथापि पूरे निबंध संग्रह में कुछेक विषयों यथा स्वाधीनता व व्यक्ति स्वाधीनता की आवृति बार-बार हुई है, जिससे पढ़ते समय पाठक को थोड़ी खीझ हो सकती है परन्तु विषयों की बारंबारता उसके महत्त्व को दर्शाता है| चूँकि अज्ञेय का जन्म एक एक पराधीन देश में हुआ था, पराधीनता से लेकर स्वाधीनता तक के सफ़र को उन्होंने देखा और भोगा था इसलिए स्वाधीनता जैसे विषय पर उन्होंने बार-बार लिखा है जो उनके निबंधों में ही नहीं कविताओं, उपन्यासों, कहानियों में भी सर्वत्र व्याप्त रही है| निर्मल वर्मा कहते हैं- "अज्ञेय की अनेक सीमाएं थीं, किन्तु आखिर तक उनका स्वाधीनता अप्रतिम और अक्षुण्ण रहा| अज्ञेय का व्यक्तित्व सहज रूप से सिमटा हुआ था, किन्तु अपने स्वाधीनताबोध के कारण वह बार-बार उसका अतिक्रमण कर लेते थे|"[1]

लेखक के अनुसार "स्वाधीनता कोई स्थिर अथवा स्थावर वस्तु नहीं है; ऐसी संपत्ति या ऐसा रत्न नहीं जिसे कोई एक बार प्राप्त कर के कहीं संजो कर रख दे सकता है| बल्कि इस के विपरीत स्वाधीनता एक ऐसी चीज है जो निरंतर आविष्कार, शोध और संघर्ष मांगती है, यहाँ तक कि उस शोध और संघर्ष को ही, स्वाधीनता की अंतहीन ललक को ही स्वाधीनता का सार सत्व कह सकते हैं|"[2] स्वाधीनता की एक पुष्ट परिभाषा देते हुए कहते है-"स्वाधीन होना अपनी चरम संभावनाओं की सम्पूर्ण उपलब्धि के शिखर तक विकसित होना है|"[3]

---

[1] निर्मल वर्मा, *शताब्दी के ढलते वर्षों में,* भारतीय ज्ञानपीठ, छठा संस्करण, 2006, पृ.264-265

[2] अज्ञेय, *स्रोत और सेतु,* राजपाल एंड सन्स, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण,1978 पृ.12

[3] वही, पृ.14

लेखक जब साहित्यकार के संदर्भ में स्वाधीनता की बात करते हैं तो वे मम् से अधिक बल ममेतर पर बल देते है क्योंकि कलाकार व साहित्यकार का सत्य केवल उनका सत्य नहीं होता वह सत्य दूसरे का भी है| "उसकी स्वाधीनता केवल उसकी नहीं होती बल्कि जिस समाज का वह अंग होता है उस पूरे समाज के हर सदस्य की स्वाधीनता को भी वह अपने में सम्मिलित करता है|"[1] रूसों की पंक्ति- 'मानव स्वाधीन जन्म लेता है, लेकिन सर्वत्र बंधनों में जीवन बिताता है' का हवाला देते हुए कहते हैं "मानव करुणा संपन्न प्राणी है, लेकिन सर्वत्र ऐसे समाज में जीता है जो निष्करुण और अन्यायपूर्ण है|"[2] उपरोक्त कथनों से स्पष्ट है कि स्वाधीनता परस्पर निर्भर रहती है| हम अकेले स्वाधीन नहीं हो सकते है| स्वाधीन होने के लिए आवश्यक है हमारे आसपास का समाज भी उतना ही स्वाधीन हो| पराधीन समाज में हम कदापि स्वाधीन नहीं हो सकते| परन्तु वहीं लेखक ने स्वयं के बारे में कहते हैं कि "मैं यहाँ भी कह सकता हूँ कि यही मुझ को मिल सकने वाली एकमात्र ऐसी स्वाधीनता है जो किसी दूसरे पर निर्भर नहीं करती| इस अर्थ में वह एकांत और सम्पूर्ण मेरी है और यह मेरा एक स्वेच्छित कर्म है कि मैं, कलाकार में, अपने आप को समूचे समाज के लिए उत्तरदायी बनाता हूँ, अपनी स्वाधीनता को अपने समूचे की स्वाधीनता के साथ जोड़ देता हूँ| यह एक स्वेच्छापूर्वक वरा गया कर्म है, एक स्वाधीन कर्म है|"[3] यहाँ लेखक स्वयं के माध्यम से पूरे समाज को स्वाधीन करते हैं, मम् से ममेतर की बात करते हैं| इस संदर्भ में रामस्वरूप चतुर्वेदी कहते है-"लेखक के अपने दर्शन का मूल मंत्र है स्वातन्त्रय का विभावन| और यह संयोग से कुछ अधिक है कि इस शब्द की अनुगूँज दर्शन, कला और राजनीति के क्षेत्रों में अपनी विशिष्ट छायाओं के साथ उत्पन्न होती है| 'स्वातंत्र्य ' शब्द के चुनाव में रचनाकार की सतर्कता, और अधिक जटिल तथा संपृक्त जीवन के वरन की क्षमता दिखाई देती है|[4]

---

[1] वही, 17

[2] वही. पृ.15

[3] वही, पृ.17-18

[4] डॉ रामस्वरूप चतुर्वेदी, *हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास*, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली, छठा संस्करण-2011, पृ-118

इसके अतिरिक्त उन्होंने जीवन के गुणवत्ता के आधार तत्त्वों, उसके गुणवत्ता स्तर को बढ़ाने के उपायों, व्यक्ति और समाजों के घटते एवं बढ़ते जीवन मूल्य और जीवन के गुणवत्ता को बढ़ाने हेतु क्या-क्या मानदंड निश्चित किए जाएं आदि विषयों पर विचार किया है| लेखक के अनुसार जीवन की गुणवत्ता केवल भौतिक परिवेश या केवल मूल्य व्यवस्था पर ही निर्भर नहीं करती, बल्कि व्यक्ति और समाजों के पारस्परिक संबंध पर भी निर्भर करती है|

आगे वे सभ्यता के संकट पर चर्चा करते हुए संस्कृति के संकट की बात करते हैं| संस्कृति और सभ्यता का आधार मूल्य वे स्वाधीनता को मानते हैं| जब संस्कृति के संकट की बात करते हैं तो वस्तुतः आधार मूल्य के संकट की बात कर रहे होते हैं| उनके अनुसार आज समाज में आधुनिक या “so called modern” कहलाने के होड़ में सर्वत्र अनास्था का भाव व्याप्त है| परम्परा व संस्कृति या धर्म के प्रति आनास्था का भाव| पश्चिम की अनुकृति की जा रही है, पश्चिम के सिद्धांतों के प्रति आग्रह बढ़ रहा है| क्योंकि वह पूँजी संपन्न, यंत्र-तंत्र रूप से विकसित है| एक समय था जब भारतीय सभ्यता व संस्कृति का महत्त्व था|

लेखक ने मिथक के महत्त्व पर बहुत ही तर्कपूर्ण विवेचना की है| वे कहते हैं मनोविज्ञान से लेकर साहित्य के क्षेत्र में मिथक के अलग-अलग महत्त्व हैं| समाज में अब तक मिथक को झूठी कल्पना के रूप में ही देखा जाता रहा है पर लेखक इसे एक रहस्यमय स्रोत के रूप में देखते हैं| संस्कृति को बनाए और संरक्षित रखने हेतु आवश्यक साधन के रूप में देखते हैं| “संस्कृति, अस्मिता की पहचान के लिए और अस्मिता की रक्षा के लिए मिथक का महत्त्व है, और समूची जाति या संस्कृति का समग्र अनुभव-संचय भी उस में योग देता है|”[1] आगे मिथक के महत्ता पर और भी अधिक ध्यान संकेद्रित करते हुए कहते हैं “जहाँ भी रीएलिटी की पहचान संदिग्ध होती है तभी वहीं हम मिथक का सहारा लेते हैं क्योंकि मिथक रीएलिटी की पहचान का हमारा सब से पुराना साधन रहा है| वह तर्क बुद्धि से कहीं पुराना है: कह सकते हैं

[1] स्रोत और सेतु, *अज्ञेय,* राजपाल एंड सन्स, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण,1978 पृ.68

कि वह प्राक्तन तर्क है| जब भी हमें 'बीइंग' के बारे में, अपने होने के बारे में कोई संदेह होता है 'मैं कौन हूँ,' या 'क्या हूं- तब मिथक का सहारा लेते हैं क्योंकि होने का ही सबसे पुराना रूप हम मिथक के सहारे पहचानते थे| और जब अपने होने या कि अपने यथार्थ 'रीएल' होने की रक्षा के लिए हम को शक्ति की जरुरत होती है, तब फिर हम मिथक की ओर जाते हैं, क्योंकि हमारा सबसे पुराना शक्ति स्रोत भी वही था|"[1] इस प्रकार उन्होंने मिथक के अहमियत को हमारे सामने प्रस्तुत किया है|

सर्वविदित तथ्य है कि भाषा अभिव्यक्ति का माध्यम है पर लेखक के लिए भाषा सिर्फ अभिव्यक्ति का माध्यम नहीं, बल्कि समूचे समाज की पहचान और उसकी संस्कृति की संवाहक भी है। भाषा को वे संस्कृति की बुनियाद व आधार के रूप में ग्रहण करते हैं| भाषा के माध्यम से ही यथार्थ की पहचान होती है, भाषा के द्वारा ही कोई समाज अपनी अस्मिता को चिह्नित करता है। साहित्य में भाषा परिवर्तन की लंबी परंपरा रही है। समय और काल के अनुसार भाषा ने अपना स्वभाव बदला है। लेखक के शब्दों में –"ये तीन शक्तियां हैं- अपनी अस्मिता की पहचान, मूल्यबोध की संभावना और यथार्थ की पहचान| मैं समझता हूँ कि भाषा का महत्त्व हमारे जीवन में इसलिए है कि ये तीन रास्ते हैं, और अंतहीन रस्ते, भाषा हमारे लिए खोल देती है| इन तीनों को अलग-अलग कर के एक बार देख लें तो उस के बाद मैं यह कहना चाहता हूँ कि इन तीनों का जोड़ हमारी संस्कृति होती हैं और .....इस लिए यह कहना अनुचित नहीं होगा कि भाषा संस्कृति की बुनियाद होती है|"[2]

इसमें कोई दो राय नहीं है कि अज्ञेय भाषा के प्रति काफी सजग रहे हैं| विशेषकर शब्दों के चयन के प्रति, प्रतीकों व विम्बों के प्रति| उनके प्रत्येक रचना में इन चीज़ों को देखा जा सकता है चाहे वो कविता हो या उपन्यास हो व निबंध हो| वह अपने हरेक कृति में अपनी भाषा के स्तर बनाए रखने की बात करते हैं| साथ ही लगभग अपने सभी निबंध संग्रहों में भाषा के महत्त्व को प्रतिपादित करते है| भाषा के

[1] वही,पृ.69

[2] वही, पृ.83

प्रति अपने आत्यंतिक लगाव के कारण ही भाषा के अवमूल्यन से गंभीर रूप से व्यथित हैं| भाषा के अवमूल्यन के विषय में वे कहते हैं "जिस अविष्कार को आज की भाषा में मीडिया कहा जाता है, जहाँ से उसका आरम्भ हुआ है, जहाँ से व्यापक संचार माध्यमों का, विस्तृत लोक-सम्पर्क, प्रचार-विज्ञापन या कांटेक्ट के लिए इन दूर प्रभावी साधनों का उपयोग होने लगा है, वहीं से भाषा का अवमूल्यन आरम्भ होता है|"[1] लेखक का मानना है कि भाषा का स्तर गिरना तब से आरम्भ हुआ है जब से हम तथाकथित टेक्नोलॉजी से परिचित हुए हैं, मशीन ने हमारे जीवन स्तर को जहाँ भौतिक रूप से संपन्न किया है वहीं नैतिक रूप से गिराया भी है, हमें हमारी संस्कृति से दूर किया है| लेखक मानते हैं कि भाषा का अवमूल्यन जानबूझकर नहीं होता, वास्तव में संस्कृति, समाज, यथार्थ, सत्य, उद्देश्य, मूल्य का अवमूल्यन हो रहा होता है और भाषा का इन सब से गहरे व संपृक्त रूप से जुड़े रहने के कारण अवमूल्यन होता है| इसी क्रम में लेखक ने राजनीति, व्यक्ति और समाज, समाज और व्यवस्था पर अपने विचारों को प्रकट किया है| संस्कृति से जुड़े सवाल उनके निबंध संग्रह 'धार और किनारे' में और भी विस्तृत रूप से परिलक्षित होती है|

'धार और किनारे' का प्रकाशन 1982 में हुआ| प्रस्तुत निबंध संग्रह में कुल बारह निबंध हैं-(i) बाल जगत के देहरी पर, (ii) खिलौनों का समाजशास्त्र, (iii) संस्कृति की चेतना, (iv) साहित्य और अन्य विधाएं, (v) यथार्थ सम्प्रेषण: कथा भाषा की समस्याएँ, (vi) समकालीन कविता की दशा, (vii) आधुनिकता: संवेदन और सम्प्रेषण, (viii) अकदेमियां क्या करें, (ix) शिक्षा और जाति-विचार, (x) विराट का संस्पर्श, (xi) शिक्षा: सांस्कृतिक संदर्भ, (xii) साहित्य का पुरस्कार|

अज्ञेय का अनुभव संसार इतना व्यापक रहा है कि उनकी लेखनी से कोई भी विषय अछूता नहीं रहा है| चाहे वो संस्कृति हो या राजनीति हो या धर्म हो या दर्शन हो या मनोविज्ञान हो या साहित्य हो चाहे वो बाल साहित्य ही क्यों न हो| सभी

[1] वही, पृ.86

विषयों पर उन्होंने बड़े ही इंटेंसिटी से विचार किया है| साधारणतः बहुत ही कम लेखक रहे होंगे, जिन्होंने बाल साहित्य पर भी इतनी बारीकी से विचार किया होगा, जितना कि अज्ञेय ने| हालाँकि अज्ञेय ने एक भी बाल साहित्य नहीं लिखा, पर न लिखने कारण बताते हुए कहते है- "-अभी बच्चों के लिए लिखने लायक उम्र नहीं हुई है और दो चार वर्ष बाद सोचूंगा|"[1] अर्थात लेखक के अनुसार बाल साहित्य लिखने हेतु पर्याप्त परिपक्वता होनी चाहिए| उनके अनुसार "प्रौढ़ लेखक उसी को मानना चाहिए जो बच्चों के लिए लिख सके|"[2] साथ ही लेखक बाल के विकास के बारे में अपनी राय प्रकट करते हुए उनके स्वतन्त्र विकास पर बल देते हैं| उनके अनुसार बालक स्वतन्त्र इकाई के रूप में होते हैं, जो अपनी स्वतन्त्र संभावनाएं लेकर आती हैं, उनको बनाने की अपेक्षा बनने देने पर अधिक जोड़ दिया जाना चाहिए| किसी भी समाज में बालक की शिक्षा की मूल समस्या यह है कि बनने देने तथा बनाने की प्रक्रियाओं में कैसे संतुलन रखा जाए, चूँकि आज के समय में परिस्थितियां बहुत ही तेजी से बदल रही, समय तेजी से भाग रहा हैं, वर्त्तमान परिस्थिति में जो मूल्य हैं आगामी क्या यही मूल्य होंगे| इन सभी के मध्य तारतम्य बनाए रखना अपने आप में एक कठिन चुनौती है| इस पर बालक को क्या शिक्षा दी जाए, यह गंभीर चिंतन का विषय है| आगे वे बालक के चरित्र व मानसिक विकास में संस्कृति, समाज एवं परिस्थिति, परिवेश, साहित्य को उतना ही महत्त्व देते हैं जितना कि भाषा को-" भाषा का अवश्य ही इस स्तर पर भी महत्त्व होगा| भाषा यद्यपि संस्कार का सबसे बड़ा और समर्थ माध्यम है, बल्कि संस्कृति की संवाहिका ही भाषा है और भाषा को परिवेश से अलग नहीं किया जा सकता-अलग करने का प्रयत्न उसकी शक्ति नष्ट करने का प्रयत्न होगा-फिर भी यह ध्यान में रखने की बात है कि भाषा आत्मबोध का भी पहला और सबसे समर्थ माध्यम है|"[3] बाल साहित्य कैसा हो, उस पर विचार करते हुए लेखक लिखते हैं-"जो

---

[1] अज्ञेय, *धार और किनारे*, सरस्वती विहार, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1982, पृ.11,

[2] वही, पृ.11

[3] वही, पृ.17

साहित्य पर्यवेक्षण के लिए खुला क्षेत्र देता है, उसकी प्रवृति और उसके सामर्थ्य को बढ़ाता है, वही बच्चे के लिए उपयोगी और अच्छा साहित्य है|"[1]

शायद ही हमनें कभी सोचा होगा की खिलौने भी बाल मनोविकास से सम्बन्ध रखते हैं| खिलौने के समाजशास्त्र में लेखक ने कहा है खिलौना केवल बच्चे तक ही सीमित नहीं रहता, बल्कि उसका संबंध तत्कालिक समाज और उसकी संस्कृति से होता है, प्रत्येक खिलौना अपने समय के सामाजिक-संस्कृतिक, राजनैतिक परिवेश को दर्शाता है, और कहीं न कहीं वह बच्चे के मनःस्थिति पर आभ्यंतरिक रूप से प्रभाव डालता है| इस प्रकार उन्होंने बाल मनोविज्ञान से संबंधित कई ऐसे विषयों को हमारे सामने उजागर किया है जो हमारे विचारों से परे थी|

आगे उन्होंने संस्कृति की चेतना पर विचार करते हुए संस्कृति को मूलतः मूल्य दृष्टि तथा उससे निर्धारित होने वाली निर्माता के रूप में देखा हैं तथा अपने इस निबंध संग्रह के लेख "संस्कृति की चेतना" में इसकी परिभाषा देते हुए कहते है कि-"संस्कृति मूलतः एक मूल्य दृष्टि और उससे निर्दिष्ट होने वाले निर्माता का नाम है –उन सभी निर्माता प्रभावों का जो समाज को,व्यक्ति को, परिवार को, सबके आपसी संबंधों को, श्रम एवं संपत्ति के विभाजन और उपयोग को प्राणिमात्र से ही नहीं, वस्तु मात्र से हमारे संबंधों को निरुपित और निर्धारित करते हैं| संस्कृतियाँ लगातार बदलती है क्योंकि भौतिक परिस्थितयां भी लगातार बदलती हैं| लेकिन संस्कृति केवल भौतिक परिस्थिति का परिणाम नहीं है क्योंकि वह अनिवार्यतः भौतिक जगत और जीव जगत के साथ मानव जाति के संबंध पर आधारित है और वह संबंध ज्ञान के विकास और संवेदन के विस्तार के साथ बदलता है| संस्कृति उन संबंधों का निरूपण करती है, निर्धारण भी करती है, मूल्यांकन भी करती है-उन्हीं संबंधों की अभिव्यक्ति भी है|"[2]

लेखक का मानना है कि सामान्यतः समाज में जो कुछ भी नैतिक व संस्कारी कार्य व अच्छा कार्य इसलिए किया जाता है क्योंकि वह हमारे संस्कार में है, हमारी

---

[1] वही,पृ.14

[2] वही, पृ.36

संस्कृति है, इस पर वे टिप्पणी करते हुए कहते हैं कि संस्कृति का यह लक्ष्य होना चाहिए कि संस्कारी जीवन जीते हुए हमें अपने को यह याद दिलाने की आवश्यकता न पड़े कि हमारी संस्कृति में यही विधेय है इसलिए हम यह कर रहे हैं अर्थात लेखक संस्कृति को आत्मसात करने की बात करते हैं|

जहाँ कहीं भी हम संस्कृति बचाने की बात करते हैं वहां केवल हम दुर्गों, प्राचीन महलों, मंदिरों को संरक्षित करने की कोशिश करते हैं उनका संरक्षण करते हैं| हमारा ध्यान तत्कालीन समय के जन जीवन, रहन सहन की ओर कतई नहीं जाता| जबकि वे भी संस्कृति का हिस्सा है| इस पर अज्ञेय अपनी चिंता व्यक्त करते हुए कहते हैं कि संस्कृति केवल अभिजात्य वर्ग से ही संबंधित नहीं है वह निम्न व माध्यम वर्ग से भी उतना ही संबंधित है| ".....केवल हम उन्हीं स्थापत्यों की चर्चा करते हैं या लोगों का ध्यान केवल प्राचीन महलों, मंदिरों, दुर्गों की ओर जाता हैं| हमारा ध्यान उस समान जन-जीवन की ओर नहीं जाता कि वे पहले कैसे रहते थे उनका रहन-सहन कैसा था| किस प्रकार के घरों में रहते थे| हमनें तो उन दुर्गों और मंदिरों को बचा लिया है पर प्राचीन समय में साधारण व्यक्तियों के घरों, इत्यादि के अवशेष नहीं रह गए हैं| जिसकी हम नक़ल कर सकें| अब केवल विदेशी निर्माण पद्धतियों पर आधारित इमारत दिखती है| इस तथाकथित आधुनिक भारतीय संस्कृति में भारतीय कुछ नहीं बचा है; संस्कृति भी लगभग नहीं बची; आधुनिक कितना है यह बिलकुल संदिग्ध है|"[1]

वहीं दूसरी ओर उनका मानना है कि व्यक्ति और उसके जीवन, परिवार, शिक्षा, समाज, विज्ञान, साहित्य और भाषा आदि सभी संस्कृति से बहुत गहरे प्रभावित और परिचालित होते हैं और उसका यह प्रभाव अभायांतर और बाह्य दोनों ही दृष्टियों से अत्यंत मूल्यवान होता है| इसलिए उक्त विषयों पर जब भी अज्ञेय किसी ख़ास विचार या विचार पद्धति से प्रतिबद्ध न होकर स्वतंत्र व पूर्वाग्रह रहित होकर चिंतनधारा का प्रतिनिधित्व करते हैं-वे भी इन विषयों को प्रस्तुत करते समय

[1] वही, पृ.46

सांस्कृतिक परिवेश और उसकी अस्मिता का खोजी होकर हमारे समक्ष उपस्थित मिलते हैं| वस्तुतः इसलिए "संस्कृति एक समग्र समाज की कारयित्री अथवा निर्मात्री प्रतिभा होती है| यदि हम संस्कृति को उसके इस सही रूप में पहचान सकें तो हम तुरंत यह भी पहचानेंगे कि शिक्षा वास्तव में संस्कृति का एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण उपकरण है शिक्षा का काम है संस्कार देना|[1]

इस संदर्भ हम यह निर्विवाद रूप से कह सकते हैं कि "वर्त्तमान शिक्षा संस्कार-च्युत हो गई है तभी तो संस्कारवान, ईमानदार और मानवीय मूल्यों से अनुप्राणित व्यक्तियों का समाज में निरंतर अभाव बढ़ता जा रहा है|"[2] आगे उन्होंने इस संग्रह में साहित्य और अन्य विधाओं, कथा साहित्यों में भाषा की समस्या, समकालीन कविता की स्थिति, उस पर पाश्चात्य का प्रभाव, अकादमियों का शिक्षा के क्षेत्र में कर्त्तव्यों इत्यादि विषयों पर विचार किया है|

'अद्यतन' उनकी महत्त्वपूर्ण निबंधों में से एक निबंध है, जिसका प्रकाशन 1977 में हुआ| इसमें कुल 22 निबंध संगृहीत हैं- (i) हिंदी का वर्त्तमान और भविष्य, (ii) भाषा और अस्मिता, (iii) सांस्कृतिक समग्रता-भाषिक वैविध्य, (iv) साहब हैं?, (v) हिंदी में शोध कार्य: अपेक्षाएं, (vi) रचनात्मक भाषा और सम्प्रेषण की समस्याएँ, (vii) भारतीय साहित्य: तुलनात्मक दृष्टि, (viii) असंतोष की पहली पीढ़ी, (ix) कुछ युग–चिंतन, (X) आज की भारतीय पत्रकारिता, (xi) आयोजन और सांस्कृतिक विकास, (xii) साहित्य सर्जना और राजकीय संरक्षण, (xiii) भारतीय लेखक और राज्याश्रय, (xiv) इतिहास और स्वातंत्र्य बोध, (xv) नाटक : ऋतूत्सव, (xvi) अकेली यात्रा की देहरी पर, (xvii) निरंतरता और स्वतंत्रता, (xviii) शिक्षा: जोड़ने वाली या तोड़ने

[1] वही, पृ.134

[2] वही 136

वाली?, (ix) अपनी चरम संभावनाओं की पहचान, (xx) स्वाधीन कृतत्त्व का उर्जा स्रोत, (xxi) हिंदी: भारत के ह्रदय की कुंजी, (xxi) प्रासंगिकता की कसौटी|

'भाषा और अस्मिता', 'कुछ युग चिंतन', 'हिंदी भारत की कुंजी', 'असंतोष की पहली पीढ़ी' आदि निबंध अत्यंत ही महत्त्वपूर्ण निबंध हैं| सारे निबंध वैचारिक नहीं हैं, कुछ निबंधों में व्यक्तित्व व्यंजना का संस्पर्श भी है| उदाहरण स्वरूप 'अकेली यात्रा के देहरी पर' जिसमें लेखक का व्यक्तित्व अपेक्षाकृत और भी अधिक उभरकर हमारे सम्मुख आया है| उन्होंने अपने प्रत्येक निबंध में भाषा पर विचार किया और उस समय की मांग भी थी कि भाषा पर विचार किया जाए| परन्तु आज भी यह उतनी ही जरुरी है क्योंकि जिस प्रकार आज भाषा का अवमूल्यन हो रहा, भाषा का स्तर गिर रहा है, चाहे दैनंदिन व्यवहार की भाषा हो या साहित्यिक भाषा हो या मीडिया की भाषा हो, सभी जगह भाषा का ह्रास ही हुआ है| इस दृष्टिकोण से यह आवश्यक है कि इस विषय पर बार-बार विचार किया जाए|

कहते है कि किसी भी वस्तु का जितना उपयोग होता हैं वह उतनी ही समृद्धतर होती है, वस्तु ही क्यों, मानव मस्तिष्क को ही लीजिए| इसका हम जितना उपयोग करेंगे, जितना गहन चिंतन करेंगे वह उतनी ही समृद्ध होती है, अन्यथा उपयोग न करने से कुंद हो जाती है| भाषा के क्षेत्र में भी यही कहा जा सकता है इसे जितना व्यवहार में लाया जाएगा, यह उतनी समृद्ध होगी| "भाषा का उपयोग जितना ही व्यापक और गहरा होता है, उतनी ही भाषा समृद्धतर होती है और व्यवहर्ता को समृद्धतर बनाती है|"[1]

इसी दिशा में वे अपने इस संग्रह के एक निबंध-'साहब हैं' में हिंदी की दशा या कह सकते हैं हिंदी की दुर्दशा का चित्रण किया है| लेखक ने इसे एक वाक्ये के माध्यम से उद्घाटित किया है, वाक्या कुछ यूँ है- लेखक अनचाहे कॉल से इजाद पाना चाहते हैं, हालाँकि फ़ोन न उठाकर भी इससे इजाद पाया जा सकता था, पर इससे

[1] अज्ञेय, *अद्यतन,* सरस्वती विहार, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1977, पृ.17

कुछ विशेष कॉल छूटने की संभावना बनी रहती है, काफी सोच विचार कर लेखक एक नुस्खा अपनाते हैं कि वे अब फ़ोन का जवाब 'हेलो' से न करके 'जी' से करेंगे| उनके ऐसे करते ही फोन करने वाला व्यक्ति उसे नौकर समझकर फोन पर ज्यादा बात न कर केवल इतना कह दिया करता था कि अमुक व्यक्ति बोल रहा/रही हूँ, साहब को बोल देना| इससे यह स्पष्ट है कि अधिकांशतः लोग यह मानते हैं कि हिंदी तो नौकर वर्ग व अनपढ़ वर्ग के लोगों की भाषा है, साहब वर्ग के लोग तो अंग्रेजी बोलते हैं| अब अंग्रेजी बोलना स्टेटस हो गया है| लेखक को ज्यादातर कॉल उसी दिल्ली, मेरठ से आते थे, जहाँ हिंदी को राष्ट्रभाषा बनाने हेतु आन्दोलन होते थे, हिंदी की दुहाई दी जाती थी और आज यही वर्ग है जो हिंदी को निम्न वर्ग की भाषा मानते हैं| "इसी दिल्ली में हिंदी की बड़ी दोहाई रहती है| भाषण दिए जाते हैं, वक्तव्य छपते हैं, आन्दोलन होते हैं, झगड़े होते हैं, कीचड़ उछाली जाती है (कीचड़ शायद अंग्रेजी अनुवाद में अधिक काली हो जाती है) संस्थाएं अखाड़े बनाती हैं; पत्र-पत्रिकाएं दंगल रचती है| लेकिन साधारण रूप से यही माना जाता है- और पढ़े-लिखे हिंदी वाले भी व्यवहारतः यही मानते हैं- कि अगर कोई निजी संदर्भ में(यानी सभा-समाजों से अलग) बिना उकसाए गए हिन्दी बोलता है तो निश्चय है कि नौकर वर्ग का है| अगर साहब वर्ग का होता तो अवश्य ही अंग्रेजी बोलता..|"[1]

उपरोक्त कथित वक्तव्य लेखक हमें तत्कालिक हिंदी की स्थिति से वाकिफ़ कराते हैं और आज के परिदृश्य में भी हिंदी की स्थिति यही है| अंग्रेजों से तो स्वाधीनता मिल गई है पर उनके भाषा पर हम उसी तरह आज भी निर्भर है जिस तरह पहले थे| अज्ञेय कभी किसी अन्य भाषा के विरोधी नहीं रहे हैं, वे स्वयं अनेक भाषा के ज्ञाता रहे हैं, उनका मानना रहा है शायद ही कोई हो जिसने एक भाषा के माध्यम से सबकुछ पाया हो- "आधुनिक काल में कोई विरला ही भाग्यवान होगा जो कुछ पाया है केवल एक ही भाषा के माध्यम से पाया हो, फिर वह भाषा चाहे देव-भाषा ही क्यों न हो|" पर सदैव उन्होंने अपनी मातृभाषा और क्षेत्रीय भाषा को

[1] वही, पृ.38

महत्त्व दिया है| उनके अनुसार जो व्यक्ति अपनी मातृभाषा में जितना निपुण होगा वो ही अन्य भाषा को अच्छी तरह से सिखने की क्षमता रखेगा|

यूँ तो लेखक ने सदैव ही भाषा के महत्त्व को समझा है एवं अपनी रचना में इसका प्रतिपादन किया है पर जहाँ भी रचनात्मक भाषा एवं साहित्यिक भाषा की बात आती है तो वे भाषा की अपेक्षा शब्दों पर बल देते हैं-"सर्जक कवि का सरोकार भाषा से नहीं, शब्दों से होता है; और रचनात्मक प्रयोग भाषा का नहीं, शब्द का प्रयोग है|"[1] वहीं दूसरी ओर काव्य क्षेत्र में मौन के विशिष्टता को सामने रखा है, शब्दों के मध्य विराम को विशेष महत्त्व देते हैं-" कविता शब्दों में उतनी नहीं होती जितनी शब्दों के बीच के विरामों में होती है|"[2] मौन की गुरुत्व को उन्होंने अपनी कविता 'आँगन के पार द्वार' में भी उद्घाटित करते हुए कहा है-

'मौन का ही सूत्र

किसी अर्थ को मिटाए बिना

सारे शब्द क्रमागत

सुमिरनी में पिरोता हैं|"[3]

इसके अतिरिक्त उन्होंने इस निबंध संग्रह में शोध कार्य, शोध के प्रकार, शोध एवं आलोचना में अंतर, हिंदी में शोध की कमी को उजागर किया है| साथ ही असंतोष की पहली पीढ़ी में बेरोजगारी की समस्या का निरूपण करते हैं|

शब्दों के चयन पर उन्होंने हमेशा से बल दिया है| वे अपने प्रत्येक रचना में शब्दों के प्रति नित-नवीन प्रयोग करते रहे हैं| "केवल सही शब्द मिल जाए तो लेखक के नाते और उससे भी अधिक कवि के नाते मैं अनुभव करता हूँ कि यही समस्या की

---

[1] वही, पृ.57

[2] वही, पृ.61

[3] अज्ञेय, *आँगन के पार द्वार(पंचम सं.),* पृ-34

जड़ है| मेरी खोज भाषा की खोज नहीं है, केवल शब्दों की खोज है| भाषा का उपयोग मैं करता हूँ नि:संदेह लेकिन कवि के नाते जो मैं कहता हूँ वह भाषा के द्वारा नहीं, केवल शब्दों के द्वारा| मेरे लिए यह भेद गहरा महत्त्व रखता है| यहां सही शब्द से तात्पर्य-सही शब्द वे ही हैं जो उनके बीच के अंतराल का सबसे अधिक उपयोग करे|"[1] लेखक ने शब्द, मौन की अहमियत की विवेचना इस निबंध संग्रह से पूर्व अपने एक और निबंध संग्रह **आलवाल** में भी की थी|

'आलवाल' निबंध संग्रह न केवल एक लेखक के लिए महत्त्वपूर्ण है बल्कि साहित्य में रूचि रखने वाले सभी पाठकों के लिए महत्त्वपूर्ण है| सन् 1977 में प्रकाशन हुआ| इसमें कुल तेरह निबंध संगृहीत हैं- (i) शब्द, मौन, अस्तित्व, (ii) लेखक और परिवेश, (iii) लेखक की स्थिति (iv) साहित्य की भारतीय कसौटी (v) भारतीय संस्कृति और विश्व संस्कृति, (vi) उपन्यास की भारतीय विधा, (vii) समकालीन कविता का संकट, (viii) नई कविता के गीत, (ix) कविता: श्रव्य से पठ्य तक, (x) आज के भारतीय समाज में लेखक, (xi) विज्ञान और हम, (xii) मानव: प्रतीक -स्त्रष्टा, (xiii) काल का डमरू नाद| इसमें लेखक ने 'शब्द, मौन, अस्तित्व', लेखक और परिवेश, लेखक की स्थिति, साहित्य की भारतीय कसौटी, भारतीय एवं विश्व संस्कृति, काल जैसे गंभीर निबंधों के संबंध में बहुत ही गूढ़ व्याख्या की है, जो बौद्धिक स्तर पर मानव मन को न केवल उद्वेलित करता है बल्कि बार-बार मंथन हेतु विवश करता है|

कहना न होगा कि विज्ञान एवं तकनीकी के विकास ने जहाँ हमें सुविधाभोगी बनाया है, वहीं हमारे परिवार का विघटन भी किया है| साथ ही एकाकीपन, अकेलापन, रिश्तों में दूरियों को लेकर आया हैं| उनके शब्दों में "विज्ञान और तकनीकी हमारे जीवन की परिपाटी को आमूल बदले दे रहे हैं; हम यह भी मानते हैं कि

[1] अज्ञेय, *आलवाल,* नैशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, दूसरा संस्करण-1977, पृ.10

तकनीकी प्रगति ही हमारे युग के संकट की जड़ है क्योंकि उसी के कारण परिवार का विघटन हुआ है, एकाकीपन और परायापन, अतिनैतिकता या नीति-निरपेक्षता के रोग व्यापक रूप से फैले हैं, कला और संस्कृति का (सिवाय के जो यन्त्र युग का पर्याय है) सर्वत्र ही ह्रास हुआ है|"[1]

इस संग्रह के अंतिम अध्याय 'काल का डमरूनाद' में काल हेतु प्रयुक्त प्रतीकों यथा डमरू,छल्ला-इटर्निटी रिंग से जुड़े तथ्यों का बड़ी ही सूक्ष्मता व बारीकी से पर्यवेक्षण किया है, किस प्रकार डमरू के बीच की कटि वर्तमान, एक हिस्सा अतीत एवं दूसरा हिस्सा भविष्य का प्रतीक है| "काल-प्रतीक के रूप में डमरू की कटि वर्त्तमान है-वर्त्तमान का क्षण-क्योंकि वर्त्तमान इससे अधिक कुछ हो ही नहीं सकता; दोनों ओर के त्रिकोण अथवा शंकु अतीत और भविष्यत् हैं| कालजीवी हम सदैव वर्त्तमान के बिंदु पर स्थित रहते हैं: अस्ति उसी स्थिति का नाम है या हो सकता है| और जब-जब डमरू की जीभ इस या उस तांत पर-अतीत या भविष्यत् पर-आघात करती है, तब-तब हमें काल का 'स्रोत' के रूप में बोध होता है| काल चेतना अनु-या प्रति-गति की ही चेतना है- भविष्य की ओर गति या अतीत से परे गति है: स्मृति अथवा प्रतीक्षा है|"[2] लेखक डमरू को मृत्यून्मुखता का प्रतीक नहीं मानते हैं उनके लिए- "काल एक सुंदर आरम्भ बिंदु से आरम्भ करके एक अंत तक नहीं जाता; वह वर्त्तमान की चेतना से आरम्भ होता है- वर्त्तमान के अद्यतन क्षण से; और उसकी गति दोनों ओर हो सकती है-अतीत की ओर अथवा भविष्य की ओर| फलतः काल के सभी क्षण सर्वदा वर्त्तमान हैं; सहकालिक हैं|"[3] इस प्रकार उन्होंने काल के गुरुत्व की व्याख्या करते हुए उसके वर्त्तमान को ही प्रमुख माना है| इस पर शंकर शरण कहते हैं- "अज्ञेय के चिंतन-परक निबंधों, टिप्पणियों तथा कविताओं में भी भारतीय काल बोध की अनूठी प्रस्तुति मिलती है समकालीन भारतीय कवियों और चिंतकों में वह उब

[1] वही, पृ.90

[2] वही, पृ.100

[3] वही, पृ.109

विरले व्यक्तियों में थे जिनकी काल संवेदना सतत जाग्रत थी| काल, दिक्, भाषा और धर्म की अटूट चेतना उनके सम्पूर्ण लेखन में व्याप्त मिलती है|"[1]

वैचारिक निबंधों में से एक निबंध 'युग संधियों पर' है, जिसके एक निबंध को छोड़कर शेष सभी निबंध 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' पत्रिका में प्रकाशित हुए हैं, पर पुस्तक के रूप में 1982 में प्रकाशित हुई| कुल पंद्रह निबंध हैं- जिसमें खोयी हुई पीढियां, संस्कृति: यहाँ, धर्मनिरपेक्षता के दर्जे, वन, जन: किसलिए? इतिहास एवं अभिजात पूर्वग्रह, हमारे समज में नारी आदि निबंध लेखक की निरंतर चिंतनशील मनःस्थिति की उपज है|

इस संग्रह पहले निबंध 'शासन् : एक जादुई कालीन' में शासन् प्रणाली व उसके कार्य पद्धति को उजागर किया गया है| एक काल्पनिक कथा के माध्यम से तत्कालीन शासन् व्यवस्था एवं शासन् पद्यति को हमारे सम्मुख प्रकट किया गया है| इसी प्रकार आज पीढ़ियों की संघर्ष की बात संयुक्त परिवारों के संघटन के संदर्भ में उठाई गई है एवं किस प्रकार आज हमारा जीवन विशेषकर नयी पीढ़ी का जीवन राजनीति से आक्रांत है, और वो भी निम्न स्तर की राजनीति से तथा शिक्षा पर उसके प्रभाव को दर्शाते हुए कहते हैं-"आज हमारा सारा जीवन राजनीति से आक्रांत है और वह भी सबसे घटिया किस्म की राजनीति से और हमारा शिक्षा-जगत उस घटिया राजनीति के भी सबसे घटिया स्तर का सबसे बेचारा शिकार है| क्योंकि देश के आजाद होते ही प्रशासन् व्यवस्था में शिक्षा और संस्कृति को बहुत नीचे का दर्जा दिया गया और जैसे-जैसे मंत्रिमंडल बदलते गए हैं हमनें देखा है कि शिक्षा का दर्जा घटिया ही गया है, उसे घटिया मंत्री मिलते हैं, आयोजित कार्यक्रमों में शिक्षा-विकास के कार्यक्रमों को हीनतर स्थान मिला है और उनके लिए आर्थिक व्यवस्था में कटौतियां प्रायः की जाती रही हैं|"[2] अज्ञेय की उपरोक्त पंक्तियाँ आज के दौर में भी उतनी ही सार्थक है जितनी की पहले थी| आज पूरा शिक्षा जगत राजनीति के प्रभाव से ग्रसित है|

---

[1] शंकर शरण, *अज्ञेय की इतिहास दृष्टि,* यश पब्लिकेशन,दिल्ली, 2015, पृ.29

[2] अज्ञेय, युग संधियों पर, सरस्वती विहार, दिल्ली, 1981, पृ सं.21

लेखक के अनुसार जीवन में साहित्य का एक विशेष स्थान है| जीवन को ठीक से जीना एक कला है और कला सौन्दर्य का दूसरा नाम है| उनके अनुसार जीवन को चाहे जितने खानों या चौखटों में बाँधने की कोशिश की जाए, असफलता ही हाथ लगेगी| व्यक्ति बनना और तदनुरूप 'व्यक्तित्व' प्राप्त करना एक महान साधना है और इस साधना के पीछे अनेक विषयों तथा कलाओं का योगदान होता है| जीवन को उसके मौलिक रूप में पहचानने के लिए वित्ति[1] की आवश्यकता होती है और ये विचार हमें साहित्य से प्राप्त होते हैं जिस की आधारभित्ति है मानवत्व, जिसे हम मनुष्यता या मानवीयता की संज्ञा से अभिहित करते हैं| साहित्य जीवन का पर्याय है और ऐसी कला भी जिससे जीवन प्रेरित, परिचालित और आंदोलित होते हैं| किन्तु साहित्य बड़ा कड़ा अनुशासन चाहती है और यह अनुशासन आता है विस्तृत अध्ययन तथा विशाल लोकानुभव से जिसमें एक जीवन नहीं अनेक जीवन न केवल अट जाते हैं, समा जाते हैं बल्कि समग्रता से जी लिए जाते हैं| इसलिए महादेवी वर्मा भी लिखती हैं "साहित्य जीवन का अलंकार नहीं है, वह स्वयं जीवन है| साहित्यकार सृजन के क्षणों में उस जीवन में जीता है और पाठक पढ़ने के क्षणों में| इस प्रकार साहित्य में हम जीवन के अनेक गहरे अपरिचित स्तरों में, मनोवृत्तियों के अनेक अज्ञात छायालोकों में जीवित अपने जीवन को विस्तार, अनुभूतियों को गहरी और चिंतन को व्यापकता देकर उसे समिष्ट से आत्मसंबध की ओर जोड़ते हैं|"[2]

अज्ञेय की सर्जनात्मक साहित्य पर दृष्टिपात करने पर यह पता चलता है कि उनके लिए "साहित्य असीम की देहरी है रचनाशील मानस अप्रमेय है| इसी में साहित्य का भविष्य है| वह अप्रमेय और अननुमेय मानव की संभावनाओं के उन्मेष का क्षेत्र है| साहित्य रचना में मनुष्य अपनी अकल्पित और अपूर्व असंभावनाओं को पहचानता और आत्मसात करता है| अपनी स्वाधीनता और अपनी रचनाधर्मिता को अभिव्यक्ति देता है और स्वायत भी करता है|"[3] स्पष्ट है कि अज्ञेय का साहित्य

---

[1] वित्ति का तात्पर्य विचार व् thought से है|

[2] सं.निर्मला जैन, *महादेवी साहित्य,* खंड-चार,वाणी प्रकाशन नई दिल्ली, 200 7

[3] अज्ञेय, युग संधियों पर, सरस्वती विहार, दिल्ली, 1981, पृ सं.47

विषयक दृष्टिकोण बहुत ही समृद्ध हैं इसलिए प्रतीक, मिथक, बिम्ब, प्रयोग, इतिहास, व्यवस्था, मूल्य, शासन् , शिक्षा, विज्ञान, व्यक्ति और समाज, रचना, भाषा, परम्परा, आधुनिकता, और संस्कृति आदि विषयों पर एक गहन चिन्तक के रूप में बराबर सोचते और लिखते नज़र आते हैं| वस्तुतः ये विषय अज्ञेय की न केवल चिन्तन बल्कि सर्जना के मूल उत्स हैं, जिनकी गतिमयता, परिवर्तनशीलता, प्रासंगिकता एवं उसकी अन्तर्निहित शक्ति तथा सीमा प्रश्न उन्हें बराबर उन्मथित किए रहती है जो मुख्य रूप से उनके निबंधों एवं साक्षात्कारों में एक अनूठी सर्जनात्मकता लिए हुए अभिव्यक्त हुई है| इस अभिव्यक्ति में एक वैज्ञानिकता, क्रमबद्धता, बौद्धिकता तथा संगति के साथ-साथ रचनाकार के अप्रमेय मानस एवं ह्रदय की रागात्मकता भी है जो हमें बहुत कुछ देती है जिसे हम जीकर समाज, साहित्य, संस्कृति, कला और राष्ट्र का ही कल्याण करेंगे बल्कि अपने जीवन को भी सार्थक, जीवंत, स्पन्दनशील बनाएंगे|

अज्ञेय ने अपने साहित्य में मनुष्य की गरिमा को एक नए ढंग से और एक आधुनिक अन्वेषक के रूप में प्रतिष्ठापित किया है और मूल्य-बोध जागृत करने के लिए जीवन में संयम, मर्यादा, मौन की महत्ता, धीरता, व्यवस्थित क्रमबद्ध चिन्तन, शब्द प्रयोग में मितव्ययिता आदि की साधना के लिए बराबर ही अनुप्रेरित किया है|

हिंदी कहानी के बदलते परिवेश संबंधी एक प्रश्न के उत्तर में अज्ञेय की टिप्पणी है: “आन्दोलन और प्रचार के युग में सभी विधाओं में आन्दोलन हुए है- काव्य, उपन्यास और नाटक में भी, कहानी में भी| आन्दोलन के दौरान या स्वयं आन्दोलनकारियों के लिए उसका महत्त्व रचना की दृष्टि से भी हो सकता है, लेकिन वास्तव में आन्दोलन की प्रेरणा रचयिता और गृहीता के बीच नया संबंध स्थापित करना होता है, स्वयं रचना को आमूल बदलना नहीं....क्योंकि रचयिता का परिवेश केवल साहित्य से अस्पृक्त समाज नहीं है, उसका पढ़ा हुआ साहित्य सद्य घटित रचनाएँ और आन्दोलन भी परिवेश का ही अंग है|”[1] इसी प्रकार आधुनिकता को संवेदन और सम्प्रेषण के परिप्रेक्ष्य में रखते हुए मूल्यांकित और परिभाषित करते हैं:

[1]वही, पृ.46

"आधुनिकता काल के साथ एक नए प्रकार का संबंध है या होना चाहिए| आधुनिकता मूलतः एक नए ढंग का काल-बोध है और हमारे संवेदन का उस पर आधारित रूपांतर बड़े दूरव्यापी परिणाम रखता है|"[1] इसी संदर्भ में संवेदन तथा सम्प्रेषण के परस्पर अन्योन्याश्रित संबंध की ओर इनका संकेत बहुत ही सार्थक है-"साहित्य कला मात्र मूलतः एक सम्प्रेषण है, अभिव्यक्ति भी है तो दूसरे तक पहुंचना है इसलिए कला और साहित्य-जगत में संवेदन का विचार सम्प्रेषण से अलग रखकर किया ही नहीं जा सकता|"[2]

अज्ञेय के समस्त वैचारिक निबंध मानव मन को उद्वेलित करते है| ये निबंध बार-बार चिंतन हेतु प्रेरित करते हैं और हमारे सम्मुख कई ऐसे प्रश्न छोड़ जाते हैं जिस पर गहन विचार किया जाना आवश्यक है| इन निबंधों में लेखक के गहन चिंतन और गंभीर दार्शनिक एवं सूक्ष्म विचार आद्यंत भरा पड़ा है| वैचारिक होने के बावजूद भी यह एक निजीपन लिए हुए है, पर विषय ही प्रमुख है, लेखक ने कहीं भी स्वयं को प्रमुख नहीं होने दिया है, अपने विचारों को ही महत्त्व दिया है| कुछेक स्थानों पर घटनाओं के माध्यम से कथा का पुट डालते हुए बहुत ही महत्त्वपूर्ण समस्याओं को उजागर करने का प्रयास किया गया है|

2.3.2 ललित निबंध एवं आत्मपरक निबंध

ललित निबंधों में 'कहाँ है द्वारका', 'सब रंग कुछ राग', 'लिखी कागद कोरे', 'जोग लिखी', 'संवत्सर' निबंध संग्रह प्रमुख रहे हैं| ये निबंध निजीपन, भावों की प्रधानता, मन की उन्मुक्त भटकन, व्यक्ति व्यंजकता, संस्मरणात्मक शैली, कल्पनात्मक उन्मुक्त उड़ान, सर्जनशीलता जैसे गुणों को समाहित किए हुए है, पर अंततः विषयों को ही प्रमुखता दी गई है| ये निबंध आत्मा के तल पर जितने स्थित रहते है उतने ही विचारों में लीन| हजारीप्रसाद द्विवेदी के बाद अगर कोई ललित व व्यक्तिव्यंजक निबंध के

[1] वही, पृ.67

[2] वही, पृ.91

पुरोधा हैं तो वे अज्ञेय हैं| उन्होंने अपने ललित निबंध में गीत-सदृश रागात्मकता, विषय-संगठन, स्वच्छंदता और विचार को भाव की जुगलबंदी से युक्त कर ललित शैली में प्रस्तुत किया है जो सांस्कृतिक बोध से जुड़कर इसे विशिष्ट बना देती है। ललित निबंध लेखन क्लिष्ट-कर्म है। इसमें निबंधकार को भाव व विचार के पंख लगाकर, अनुभूति को सार्थक अभिव्यक्ति का स्वरूप देकर, एक नए लालित्य-लोक में विचरण करना होता है। इस उपक्रम में उसे हर बार नया अनुभव और अनुभव में अभिनव आनंद की प्राप्ति होती है। इन सभी तत्त्वों को अज्ञेय के ललित निबंधों में देखा जा सकता है|

सन् 1982 में प्रकाशित 'कहाँ है द्वारका' बारह लालित्यरम्य, व्यक्तिव्यंजक निबंधों का संग्रह है-(i)वर्षागम, (ii) ऊँघ, (iii) अस्पर्श, (iv) खग-भाषा, (v) सबै भूमि गोपाल की, (vi) आकाश से नारद गुजरे, (vii) चेहरे का मंदिर, (viii) ताली तो छुट गयी, (ix) कहाँ है द्वारका, (x) शैतान के आईने, (xi) मरुथल की सीपियाँ, (xii) छोड़ने का सुख| इसका प्रकाशन 1982 हुआ है|

इन निबन्धों में लेखक ने "भाव तो वहां है पर रंजित रूप से प्रस्तुत किया गया है| और वह रंजन उन्हें झूठा या हल्का करने के लिए नहीं हैं बल्कि आकृष्ट करने के लिए है-रंगत के प्रति भी उस मूल्यवान धातु के प्रति भी, जिसे रंजित किया है|"[1] अज्ञेय के लिए "यह सारी प्रक्रिया एक सांस्कृतिक कर्म व्यापार है...इमारत मैंने खड़ी की है तो भी भूमि तो आपकी है-संस्कृति तो उसी भूमि में पनपती है, जो सबकी होती है|"[2]

कहते हैं निबंध मानव मन की उड़ान होती है, जिसमें लेखक अपने भावों को निर्बाध रूप से उजागर करता है| वैचारिक निबंधों में कल्पना का पुट, भावुकता, रम्यता की

[1] अज्ञेय, *कहाँ है द्वारका,* राजपाल एंड संस , नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1982, पृ.भूमिका

[2] वही, पृ. भूमिका

गुंजाइश कम रहती है उनमें विषय व उद्देश्य ही प्रमुख रहते हैं| पर ललित निबंध ही एकमात्र ऐसा निबंध है जिसमें कल्पना के उड़ान हेतु विस्तृत फलक मिलता है, जिसमें आप निश्चिन्त होकर अपने मन रुपी घोड़े को जितना चाहे उतना भगा सकते हैं| 'कहाँ है द्वारका' में भी लेखक के उन्मुक्त उड़ान को देखा जा सकता है, उनके शब्दों में ही- "एक बात और जोड़ दूं तो मैं समझता हूँ कि मुझे जो कुछ कहना था वह कहा जा चूका है| भावों को, विचारों को, रंगों को, रंजन की सहज वृति को-सभी को खुली छूट दी गयी है, और खुलेपन के द्वारा एक खुलेपन को आमंत्रित करना ही उद्देश्य रहा है|"[1]

लेखक ने संस्मरणात्मक घटनाओं के माध्यम से छोटे-छोटे क्षणों को बड़ी ही रम्यता, भावुकता के साथ रेखांकित किया है जिसमें पाठक के लिए स्वयं को डूबने से रोक पाना असंभव है| लेखक की निम्न पंक्तियों में प्रकृति का वर्णन किया हैं जिसमें भाषा काव्यात्मक हो गई है, जिससे लेखक के कवि होने का भी आभास मिलता रहता है| पंक्तियाँ निम्न रूप से हैं-

"सवेरे उठ कर बाहर देखता हूँ तो आकाश सारा मेघों से घिर आया है| मेघ काले नहीं हैं, उजले ही हैं, पर छाये हुए हैं सारा आकाश| बल्कि ऐसा लगता है मानो वे केवल ऊपर-ही-ऊपर एक चंदोवे से छाये हुए नहीं हैं| भूमि के स्तर से ही एक झीना नम धुंधलका-सा उठने लगता है जो ऊपर बढ़ता हुआ घना होता जाता है| बादल ऊपर कहीं एक स्पष्ट स्तर से शुरू होता हो, उस की तह-सी जमी हो, ऐसा नहीं|"[2]

उपरोक्त पंक्तियों को यूँ भी कहा जा सकता था- 'आकाश में बादल छाए हैं'| पर लेखक ने इसे आत्मिकता से भावों में रंजित किया है, जिसे शब्दों में वर्णित कर पाना सरल नहीं था, क्योंकि अनुभूतियों को शब्दशः उन्हीं भावों के साथ कागज में उकेरना काफी कठिन हैं| इन्हीं हल्की सर्जनात्मक अनुभूतियों के मध्य लेखक कब इतने महत्त्वपूर्ण बात कह डालते है कि पता ही नहीं चलता| किस प्रकार शहरों से पक्षियाँ,

[1] वही, पृ. भूमिका

[2] वही, पृ.35

पेड़-पौधे सब लुप्त होते जा रहे, पक्षियों के कलरव का स्थान मोटर गाड़ियों की ध्वनियों ने ले लिया है| इस परिवर्तन को इंगित करते हुए अपने निबंध खग भाषा में कहते हैं- बरसों से शहर में रहता हूँ जहाँ भोर की आवाजों में चिड़ियों की बोली अकल्पनीय बात हो गयी है| बल्कि इधर तो सवेरे-सवेरे मनुष्य का स्वर भी जैसे दुर्लभ चीज हो गयी है: जो कुछ सुन पड़ता है वह मानव-निर्मित होकर भी मानवीय नहीं होता: मोटरों-ट्रकों की गडगडाहट और भोंपुओं की अधीर चिल्लाहट या गुर्राहट, रेहड़ों-ठेलों की खटर-खटर, साइकिलों की खिसिर-खिसिर और कभी एकाएक लगाये गए ब्रेक की चिचियाहट.....अक्सर लाउडस्पीकर चीख़ उठते हैं तो भी यन्त्र संगीत की ही विडम्बना ही सुनायी पड़ती है|"[1]

लेखक कहीं न कहीं इस आधुनिकता से काफी आहत हैं, ऐसा नहीं है वे आधुनिक समाज की परिकल्पना नहीं करते, पर वो ऐसे आधुनिक समाज की परिकल्पना नहीं करते जहाँ हम अपनी संस्कृति, परम्परा, भाषा, प्रकृति से कट जाएं | उनके प्रत्येक निबंध चाहे ललित निबंध हो या वैचारिक निबंध, सर्वत्र ही इन विषयों को प्रमुख रूप से विश्लेषित किया गया है, अंतर सिर्फ इतना है कि शैली, माध्यम भिन्न हैं|

मानव इतना स्वार्थी हो गया है कि उसके पाने की जो चाह है, जो ललक है, उसका कहीं अंत नहीं दिखता नज़र नहीं रहा है, विकास के नाम पर वनों को, जंगलों काटा जा रहा है, उसकी कंकरीट के जंगल आ गए हैं, गाँव शहर में तब्दील हो रहे हैं, इसी सन्दर्भ में वे अपने इस निबंध संग्रह के निबंध 'सबै भूमि गोपाल की' में कहते हैं "मनुष्य की जमीन की भूख जंगलों को भी काट-काट, चोट-चाट कर साफ़ करती जा रही है, गोपाल से छीन कर गोरमिंटी नगर-विकास के संस्थानों को सौंपती जा रही है|"[2]

---

[1]

[2] वही, पृ.49

अज्ञेय जितना पूर्व के साहित्य, संस्कृति के ज्ञाता थे उतने ही वे पश्चिम के संस्कृति एवं साहित्य के भी| उनके ललित निबंधों में भारतीय एवं पाश्चात्य संस्कृति का अद्‌भुत मिश्रण देखने को मिलता है| 'आकाश से नारद गुजरे' निबन्ध में पश्चिम तथा पूर्व की सांस्कृतिक अवधारणाओं को प्राक् चरित्रों के माध्यम से व्यक्त किया तथा जिसमें दोनों संस्कृतियों के दो-दो ऐसे प्राक् चरित्रों का उदाहरण दिया गया है जो दोनों ही संस्कृतियों की केंद्रीय आकांक्षा और समस्या को बखूबी रूप से प्रस्तुत करते हैं| पश्चिम के 'फाउस्ट' तथा 'हैमलेट' की तुलना हनुमान तथा नारद से करते हुए कहते हैं- "हनुमान तथा नारद भाव भारत के व्यवहारिक जीवन को भी समझाने की कुंजी दे सकता है|"[1]

निबंध में पूर्व जन्म के संस्कारों, प्रतिबिम्बों, मनुष्य के मूल रोमानी स्वभाव, सहस्त्राब्दियों से संचित रागानुभाव आदि के संदर्भ में कहते हैं-"मेरे दिवास्वप्नों में अक्सर एक विम्ब उभरता है, एक नगर द्वीप का.....उंची चट्टान पर बनी हुई छोटी-सी बस्ती का, जिसकी चट्टानी नींव पर सागर की लहरें लगातार पछाड़ खाती रहती है.....जब तक वह सामने रहती है, तब तक मैं काल का अतिक्रमण करके निखधि काल के महाप्रांगण में विचरण करता रहता हूँ, वह महाप्रांगण भी है और महासागर भी, और उसी के बीच में ध्रुव और अडिग और ज्योतिष्मती कड़ी है, वह दिव्य द्वारका.....|[2] ये ऊपर–ऊपर से दिवास्वप्न लगते हैं पर लेखक के इस दिवास्वपन के चट्टानी नींव पर सागर की लहरें बार-बार चोट करती रहती हैं, इसलिए लेखक के मन में जब भी यह विम्ब उभरता है तो वह देर तक उसमें डूबा रहता है और उसे भावशून्य होकर देखता रहता है और साथ ही लेखक ने प्रवणता, मन की उन्मुक्त भटकन, गूढ़ ज्ञान संपदा, तल्लीनता पाठकों के ह्रदय तथा बुद्धि दोनों को अद्‌भुत संतुलन किया है|

ललित निबंध संग्रहों में **'सबरंग और कुछ राग'** अज्ञेय के महत्त्वपूर्ण निबंध संग्रहों में से एक है| इसका प्रथम संस्करण 1956 में और दूसरा 1970 में हुआ था| ये निबंध

---

[1] वही, पृ. 54

[2] वही, पृ.83

संग्रह कुट्टिचातन के नाम से लिखा गया है –"समझ लीजिए कि 'कुट्टिचातन' दक्षिणी लोक जीवन का मसखरा बौना जो जिसके-तिसके कंधे पर सवार होकर उसे मनमाने नाच नाचता है- खुली हवा का प्राणी है और इन पंक्तियों का लेखक भी खुली हवा में और साफ़-सुघरे पर्वतीय वन प्रदेशों में पला है और घूमने-फिरने का आदि है|"[1]इस निबंध संग्रह के कुछ अंश पहले 'प्रतीक ' में छपे थे और कुछ अंश 'सबरंग' में| बाद में इस संकलित कर एक निबंध संग्रह का रूप दिया गया|

प्रस्तुत निबंध संग्रह में कुल 17 निबन्ध हैं- i. राष्ट्र के प्रतीक , ii.मार्ग दर्शन, iii.दिल्ली देखा कि आगरा?, iv. पहला रिपोर्टर, v. अकेलापन, vi. गिलहरी, vii. पनीर का टुकड़ा, viii. पीपल, ix. शारदीया धूप, x. सन्नाटा, xi. गाँव का पोखर, xii. कुछ वर्गवाद, xiii. दृष्टिकोण, xiv.सभ्यता की न्यामतें, xv. नखरे में गर्म मसाला, xvi. सेवा-पुराण, xvii. भूमिका तो रह ही गयी|

प्रस्तुत निबंधों में निबंधकार का व्यक्तित्व अपने रागात्मक संस्पर्श के चरम उत्कर्ष के साथ अभिव्यक्त हुआ है| गंभीर विषयों का प्रतिपादन बहुत ही साधारण ढंग से लेखक ने किया है| 'गिलहरी' निबंध में गिलहरी अपने दो बच्चों को पेड़ पर चढ़ना सिखा रही होती है और उसमें से एक बच्चा सीखना नहीं चाहता है, बहुत ही आलस्य और उत्साहहीन भाव का प्रदर्शन करता है, इस स्थति पर मुग्ध होते हुए लेखक ने गिलहरी(मां) के क्रोध का बड़ा ही अद्भुत चित्रण किया है –"तो तू नहीं मानेगा, जाएगा वहां? अच्छा चल, मैं तो जाती हूँ-चल, गिर कीचड़ में मर- अब क्यों डरता है, चल न, क्या हाथ-पैर टूटे हैं? बोल, फिर आएगा? (चांटा) बोल, कह अब कभी नहीं आऊँगा? (चांटे) कह अब शरारत नहीं करूंगा, बड़ों का कहना मानूंगा (चाटें).....|"[2]

---

[1] अज्ञेय, *सब रंग कुछ राग,* नैशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली, 1982, पृ.भूमिका

[2] वही,पृ.38

उपरोक्त पंक्ति में लेखक ने गिलहरियों के मध्य हुए संवाद(इशारों) का बहुत ही बखूबी से मानवीकरण किया है| वहीं इस संग्रह के अन्य निबंध में अकेलेपन को आधुनिकता की देन कहा है, पर लेखक को अकेला रहना पसंद है क्योंकि अकेले रहते हुए मन के घोड़े को जितना चाहो उतना दौड़ाया जा सकता है|

लेखक ने चर-अचर की दुनिया के उन क्षणिक पलों को अपने इस कृति में कैद किया है जो हमारी दृष्टि में बहुत ही साधारण सी बात हो सकती है, जिस पर हम कभी गौर नहीं करते| पर लेखक इन क्षणों को जीते है और साहित्यिक रूप से शब्दबद्ध करते हैं, लेखक की खिड़की से दिखने वाला पीपल के पेड़ और उस पर बैठे सतभैये एवं बुलबुल किसी के लिए भी साधारण सी बात हो सकती है, रोजमर्रा के जीवन में घटित होने वाली साधारण सी घटना| पर लेखक के लिए ये क्षण वे क्षण हैं जिसमें वे आत्मविभोर होकर अपने काल्पनिक घोड़े को भगाते हैं और बहुत दूर तक भगाते हैं| ललित निबंध ही एक ऐसी विधा है जहाँ आप मन रूपी घोड़े को जितना चाहो उतना भगा सकते हैं, जिसका लेखक ने पूरा-पूरा लाभ लिया है| "..बल्कि मैं सतभैये और बुलबुल ही देखता रहूँ|"[1]

ध्यायत्वय है जब भी अज्ञेय के निबंधों को पढ़ते हैं चाहे वो वैचारिक निबंध हो या ललित निबंध या आत्मपरक निबंध हो लेखक ने समस्त स्थानों पर विषय वस्तु से संबंधित ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, मिथिकीय तथ्यों एवं भाषिक महत्त्व को परत दर परत खोलते चले जाते हैं| उदाहरण स्वरूप 'सन्नाटे' निबंध में लेखक ने सन्नाटे के ध्वन्यानुसारी शब्दों यथा सांय-सांय या भायं भायं के उत्पत्ति संबंधित कारणों का उल्लेख करते हैं साथ ही कई ऐसे ध्वन्यानुसारी शब्दों के उत्पत्ति से संबंधित कारणों से हमें अवगत कराते हैं| "सन्नाटा आत्यंतिक रवहीनता नहीं है| वह शब्द ही एक गुण है| कह लीजिए कि वह मौन का स्वर है, निस्तब्धता की गति है|

[1] वही,पृ. 48

इसमें कोई मौलिक विरोध नहीं है, क्योंकि स्वर के क्षेत्र में जैसे सन्नाटा है, वैसे ही और इन्द्रियगोचर क्षेत्रों में भी लक्ष्य होता है|"[1]

'पनीर का टुकड़ा' और 'शारदीया धुप' निबंध भाषा और शिल्प की दृष्टि से अतुलनीय है| 'शारदीया धुप' निबंध में लेखक शैली देखते ही बनती है- "बादल, बिजली, बायर, बौछार, कीच की घिचपिच, पानी की छपाछप, टपा-टप, तिप्-तिप्, झर-झर, घहर-घहर, कल-कल, छल-छल; झिल्ली-झींगुर की झनक और पपीहे की पुकार, मेढ़कों की टर्राहट?"[2] यहाँ वर्षा के आगमन को इंगित करते हुए कहते हैं कि वर्षा अपने स्पष्ट लक्षण लेते हुए आती है, जिसे हम देखते ही नहीं, छू भी सकते हैं, सूंघ भी सकते हैं| लेखक को वर्षा से अधिक शरद ऋतु पसंद है, क्योंकि शरद ऋतु उनके लिए शांति लेकर आती है, जहाँ जीवन के अस्तित्व का पता चलता है- " पेड़ की छांह में झाड़ी : पेड़ की पत्तियों से छनकर आयी धूप में लहलहाती हुई झाड़ी की पत्ती पर झूलती हुई शारदीया तीसरे पहर की धूप|"[3] यहाँ लेखक ने शरद ऋतु का अद्भुत वर्णन किया है, जो लेखक के प्रकृति के साथ रागात्मक संबंध को दर्शाता है| शरद ऋतु के प्रति लेखक का लगाव उनकी कविता 'शरद' में भी देखा जा सकता है, उसकी कुछ पंक्तियां दृष्टव्य हैं-

'बादलों के चुम्बनों से खिल अयानी हरियाली,

शरद की धुप में न्हा-निखरकर हो गई है मतवाली|

झुंड कीरों के अनेकों फबतियां कसते मंडराते:

झरा रही है प्रांतर में चुपचाप लजीली शेफाली|'

'लहलहाती हुई झाड़ी की पत्ती पर झूलती हुई शारदीया धूप' की कल्पना अज्ञेय जैसे लेखक ही कर सकते हैं| लेखक को इस शारदीय धुप में जीवन के होने की ज्ञान होता

---

[1] वही, पृ.61

[2] वही, पृ. 55

[3] वही, पृ .57

है| शारदीया धूप "जीवन होने की एक दशा है, और शांति होने की अनुभूति की और अनुभावक की एक दशा है- सहज, स्वस्थ, स्व-पूरक, स्व-प्रेरित, आत्म-पारित और सवतः: सम्पूर्ण दशा...."[1] प्रस्तुत पंक्ति में लेखक की भाषा काव्यमय हो गयी है, भाषा का बहुत ही संवेदनशील रूप उनके कविता के बाद ललित निबंधों में मुखर हुआ है| अज्ञेय की भाषा के संदर्भ में लेखक विश्वनाथनाथ प्रसाद तिवारी कहते हैं-"अज्ञेय की भाषा एक उपलब्धि है- उनके लिए भी उनके पाठक के लिए भी। उनके पास एक अत्यंत समृद्ध सांस्कृतिक अनुभव की पूंजी है, जो उन्हें लोक और शास्त्र, दोनों के अन्वेक्षण से प्राप्त हुई है। यह स्वाभाविक है कि इस अनुभव को वहन करने की समर्थ भाषा की सृष्टि उनकी रचना प्रक्रिया का सर्वाधिक सजग और निपुण पक्ष है|[2]

इस निबंध संग्रह में लेखक ने नेताओं के नाम पर रखे जाने वाले मार्ग के नाम की प्रवृति पर व्यंग्य करते हैं, तो लोगों से पता पूछने पर उनके द्वारा दिए गए उत्तर से उनके व्यक्तित्व को उजागर करते हैं|

'सबरंग और कुछ राग' निबंध संग्रह के माध्यम से व्यक्त लेखक की सजगता के साथ-साथ संवेदनशीलता का और भी विस्तृत रूप 'जोग लिखि' निबंध संग्रह में लक्षित होती है|

1977 में प्रकाशित **'जोग लिखि'** निबंध संग्रह में 20 निबंध संगृहीत हैं, कुछ निबंध ललित हैं तो कुछ निबंध वैचारिक हैं, तो कुछ आत्मपरक| अधिकांश निबंध ललित ही हैं| इसमें कुछ स्फुट निबंध हैं तो स्फुट प्रश्नोंत्तारियां भी शामिल हैं-i. आँखों देखी और कागद लेखी, ii. सर्जनात्मक अनवधान, iii. सावन किस रुत आएगा, iv.उन्मेषशालिनी प्रतिभा, v. अपनी निगाह में, vi. अतीत के दर्पण में-एक लौ, vii. हिंदी कहानी का परिवेश, viii. ललित, व्यक्ति-व्यंजक , ix. व्यक्तित्व-रंजीत, x.

---

[1]वही, पृ. 57

[2] सं॰ विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, *अज्ञेय, यायावर अज्ञेय:वागीश शुक्ल*, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली,पृ.306

उपन्यासों के बारे में, xi. खंडित इकाईयां, xii. पुरस्कार के पार, xiii. साम्प्रदायिकता और नैतिक-शिक्षा, xiv. बोली, भाषा, राष्ट्रभाषा, xv. असहमत लेखक, xvi. निजी और सार्वजानिक चेहरे, xvii. जनतंत्र में बुद्धिजीवी की भूमिका, xviii. चुप की दहाड़, xix. बौद्धिक की निराशा, xx. जहाँ मैं खड़ा हूँ|

निबंधों के मूल में स्वाधीनता, मूल्य, भाषा, यथार्थ, लोक साहित्य जैसे विषय रहे| इसी क्रम में लेखक भाषा को अस्मिता और यथार्थ से जोड़ते हुए कहते हैं-"भाषा के साथ अपनी पहचान का प्रश्न जुड़ा हुआ है और यथार्थ की पहचान का भी जुड़ा हुआ है|"[1]

वहीं सच्चे धर्म की एक पुष्ट परिभाषा देते हुए कहते हैं- "मेरी निष्ठा दूसरे धर्मों के समान्तर 'हिन्दू' मतवाद की रुढियों पर न रह कर इन्हीं बुनियादी मूल्यों पर रही है| मेरी समझ में तो सच्चे धर्म-बीज यही हैं; क्योंकि धर्म ही वह है जो विश्व को धारण करता है, वह नहीं जिस का हम नुस्खा बना कर ताबीज में डाल कर पहन सकते हैं|"[2] अज्ञेय ने हमेशा धर्म के बुनियादी मूल्यों पर जोर दिया है, न कि उससे संबंधित रुढियों पर| बुनियादी मूल्यों में सत्य, ऋत, तप को स्वीकार करते हैं|

यह सर्वमान्य तथ्य है कि लोक जीवन में हमेशा से ऋतु काव्य की प्रधानता रही है, विशेषकर वर्षा ऋतु की| इसकी चर्चा लेखक 'सावन किस ऋतु आएगा' में करते हुए कहते हैं मेघ जहाँ कृषि चक्र पर आधारित जीवन के श्रेष्ठ प्रतीक है तो वहीं मेघ को देख कर विरहिणी पिया मिलन की उत्कंठा से भर जाती है अर्थात कहीं मेघ हमारे जीवन का आधार है तो कहीं प्रेम अनुराग का माध्यम| किस प्रकार मेघ रूपी मुकुट में समूचे जीवन को दर्शाता है इस पर लेखक लिखते हैं- "यों हम मेघ रुपी मुकुट से अपने देश और समाज के समूचे जीवन का प्रतिबिम्ब देख सकते हैं| घटा का घुमड़ना वियोग की पीड़ा का, विरह के अवसाद का, गर्जन अकाल के आह्वान,

---

[1] अज्ञेय, *जोग लिखी,* राजपाल एंड सन्स,नई दिल्ली, 1977, पृ.22

[2] वही, पृ.32

दामिनी की दमक प्रिय-मिलन की उत्कंठा का और धारासार वृष्टि प्यार के उन्माद का अथवा आत्म-दान का प्रतीक हो जाते हैं मेघाच्छन्न आकाश में स्मृतियों के जागरण का, स्निग्ध आलोक में वात्सल्य की शांति का, घटाओं के घुलने-मिलने में मान के क्रीड़ारत दुलार का और झीनी वर्षा में भाई-बहिन के विश्वास-भरे स्नेह का प्रतिबिम्ब भी हमें दिख जाता है|"[1] इस प्रकार लेखक ने बारिश के भिन्न रूपों में बहुत ही बारीकी के साथ विभिन्न रागात्मक संबंधों को उकेरा है, यहाँ लेखक का सूक्ष्म पर्यवेक्षी दृष्टिकोण का परिचय मिलता है|

'अपनी निगाह में' निबंध में लेखक समकालीन लेखकों पर चर्चा करते हुए लिखते हैं आत्मचर्चा करना आज-कल के लेखकों का फैशन हो गया है, लेखकों की निगाह स्वयं पर केवल होती है| उनके अनुसार आज लेखक कलाकार न रहकर व्यवसायी हो गया है|

प्रस्तुत संग्रह के कई निबंधों में लेखक का प्रकृति के प्रति अटूट प्रेम द्रष्टव्य है| जो उनके व्यक्तित्व, उनके रुचियों को और भी अधिक निखारता है| लेखक कभी हिमालय के शिखरों की ओर उन्मुख कुटीर में रहने की कल्पना करते हैं तो कभी सागर की ओर आकृष्ट होते हैं| पर शांत सागर की कल्पना नहीं करते, उन्हें चट्टानों पर चोट करते सागर की लहरें ही पसंद हैं- "वह सर्वदा हिमालय के हिम शिखरों की और उन्मुख कुटीर में रहने की कल्पना किया करता है और जब तब उधर कदम बढ़ा लेता है, पर दूसरी और वह भागता है बराबर सागर की ओर ..... शांत सागर तल उसे विशेष नहीं सोहता –चट्टानों पर लहरों का घात-प्रतिघात ही मुग्ध करता है|"[2] यहाँ लहरों के घात-प्रतिघात से तात्पर्य है लेखक को जीवन संघर्ष करना पसंद है|

आगे बढ़ते हुए लेखक ने ललित निबंध तथा व्यक्ति व्यंजक निबंध में अंतर को स्पष्ट करते हुए कहते हैं व्यक्तिव्यंजक निबंधों में व्यक्तित्व की व्यंजना अनेक प्रकार से होती है, परन्तु लालित्य निबंध में विषय-वस्तु का चयन तथा नियोजन लीला भाव, राग-

[1] वही, 47

[2] वही, 83

रंजित दृष्टिकोण से होता है| इसके अतिरिक्त इस प्रस्तुत रचना में लेखक ने समकालीन हिंदी का परिवेश, बोली, भाषा, राष्ट्रभाषा, उपन्यास आदि जैसे विषयों पर बड़े ही तर्कपूर्ण, स्पष्ट, सुगठित तरीके से विचार किया है|

'लिखि कागद कोरे' में लेखक का विस्तृत चिंतन प्रदेश फैला हुआ है| इसमें कुल तेरह निबंध हैं- i. सपने मैंने भी देखे हैं, ii. ऋण स्वीकारी हूँ, iii. अज्ञेय:अपनी निगाह में, iv.हौआ प्रकरण-१, v.हौआ प्रकरण-२, vi. कुट्टिजात-विनोदें-१, vii. कुट्टिजात विनोदेन-२, viii.लेखक के चारों ओर, ix.परंपरा, प्रभाव, प्रक्रिया, x.हिन्दाग्लीयम्, xi.व्यक्तित्व, विधाएं, बाधाएं, xii.स्वाधीन भारत में लेखक, xiii.लेखक- अभियुक्त| कुछ निबंधों में अज्ञेय स्वयं विषय के रूप में उपस्थित है| यह आत्मपरक निबंध संग्रह है| प्रारम्भ में यह पुस्तक एक परिशिष्ट के रूप में तैयार की जा रही थी परन्तु आकार में इतनी बड़ी हो गई कि बाद में इसे सबके सुझाव से स्वतंत्र रूप से प्रकाशित करवाना उचित समझा गया "असल में ये पुस्तक पहले एक और पुस्तक के परिशिष्ट के रूप में आयोजित हुई थी| पर जब पूँछ अधिक लम्बी हो गयी तो सुझाया गया कि काट अलग कर देने पर यह स्वतन्त्र रूप से जी सकेगी|"[1] इस संकलन में तेरह निबंध हैं| कुछ निबंध रेडियों में प्रसारित थे तो कुछ निबंध सेमिनारों में व्याख्यान के रूप में|

इस संग्रह के लेखक के घुमक्कड़ी प्रवृति, उनके रूचि, संस्कार, सपने, दावे और स्मृति-शेष घटनाएं व्यक्त हुयी हैं, निबंधों में उनकी जिज्ञासावृति बहुत गहरे रूप से मुखर हुई है| इसमें कुछ निबंध ललित निबंध है तो कुछ निबंध आत्मपरक| 'अज्ञेय अपने निगाह' में आत्मपरीक्षण के अनेक प्रसंग द्रष्टव्य है, उदाहरणस्वरूप- "अज्ञेय बड़ा संकोची और समाज भीरु तो इतना है कि कभी-कभी दूकान में कुछ चीजें खरीदने के लिए घुसकर भी उलटे पाँव लौट आता है क्योंकि खरीदारी के लिए दुकानदार से बातें करनी पड़ेंगी| लेकिन एक पक्ष भी है जिसके मूल में निजीपन की तीव्र भावना है, वह

[1] अज्ञेय, *लिखि कागद कोरे,* राजपाल एंड संस, नई दिल्ली, 1972, पृ.7

जिसे अंग्रेजी में सेन्स ऑफ़ प्राइवेसी कहते हैं|"[1] किन चीजों को अपने तक या अपनों तक ही सीमित रखना चाहिए इसके बारे में लेखक की स्पष्ट धारणाएं थी| इस निजीपन का कारण बताते हुए वे स्वयं कहते हैं-"अज्ञेय का जन्म खंडहरों में शिविर में हुआ था| उसका बचपन भी वनों और पर्वतों में बिखरे हुए महत्त्वपूर्ण पुरातत्वावशेषों के मध्य में बीता|.....खुदाई में लगे हुए पुरातत्वानमेषी पिता के साथ रहने का मतलब का अधिकतर अकेला ही रहना और अज्ञेय बहुत बचपन से एकांत का अभ्यासी है|"[2] यहाँ लेखक की सेन्स ऑफ़ प्राइवेसी का कारण उभर कर सामने आता है, वे बहुत कम लोगों से खुलते हैं, परन्तु जिनसे भी खुलते हैं, उनके सम्मुख सदैव प्रस्तुत रहते हैं| यहाँ लेखक ने अपनी ही निगाह में स्वयं को परखा है| इन निबंधों में लेखक स्वयं को लेकर कोई स्पष्टीकरण नहीं करते, बल्कि व्यक्तिपरक ढंग से सोचते हैं|

सर्वविदित है लेखक यायावरी प्रवृति के रहे हैं, उनके सभी कृतियों में चाहे काव्य हो, या उपन्यास हो या निबंध यदाकदा उनकी यह रुची का परिचय मिलता है- "मेरा सपना यह था कि मैं एक पोटली कंधे की लाठी में लटकाए चला जा रहा हूँ| कहाँ? कहाँ का क्या सवाल, बस चला जा रहा हूँ और अनंत काल तक चलता जाऊँगा| मुझे घुमक्कड़ी पसंद थी, शहर हो कि जंगल, नदी, नाले कि पहाड़ समुद्र कि रेगिस्तान कि तीर्थ स्थल कि पुराने खँडहर|"[3]

इसी क्रम में लेखक का विद्रोही व्यक्तित्व उभरकर सामने आता है पर यह विद्रोही मर्यादावान विद्रोही है| लेखक रुढ़िवाद तोड़ने के लिए हमेशा तैयार रहता है पर उनके लिए परम्परा तोड़ी नहीं जाती, आगे बढ़ायी जाती है| इसी प्रकार प्रस्तुत निबंध संग्रह में भाषा, स्वाधीनता, परम्परा, आधुनिकता, संस्कृति आदि पर ध्यान केन्द्रित किया गया| लेखक इस निबंध की सार्थकता के संबंध में कहते हैं- "समय-समय लिखे गए ये आत्मपरक निबंध या बोले गए प्रश्नोत्तर इस संगृहीत रूप में भी पाठक

[1] वही, पृ.25

[2] वही, पृ. 26

[3] वही, पृ. 28

को रुच सकते हैं, सुलझे हुए पाठक को अपने को सुलझाने में कुछ मदद दे सकते हैं|"[1] लेखक की यह उक्ति शत-प्रतिशत सार्थक सिद्ध होती है|

आत्मपरक निबंधों में अज्ञेय का **'आत्मनेपद'** निबंध संग्रह बहुत ही महत्त्वपूर्ण है, जैसा कि शीर्षक से ही स्पष्ट है, लेखक ने अपनी ही कृतियों पर एवं कृतिकार के रूप में स्वयं अपने बारे में विचार किया है| यह 1982 में प्रकाशित हुई| इसमें कुल काव्य 27 निबंध हैं,जिसे अलग-अलग शीर्षक के तहत रखा गया है- i.संदर्भ:काव्य,ii. संदर्भ:आख्यान, iii. संदर्भ:आलोचना, iv.संदर्भ:स्थिति, v.संदर्भ:मन| पहले शीर्षक के तहत- 'मेरी पहली कविता', 'प्रवृति: अहं का विलयन', 'प्रयोग और प्रेषणीयता', 'प्रतीकों का महत्व', 'प्रतीक और सत्यान्वेषण', 'थिर हो गयी पत्ती', 'दूसरे शीर्षक के अंतर्गत शेखर से साक्षात्कार', 'शेखर': एक प्रश्नोत्तरी', ''नदी के द्वीप': क्यों और किस के लिए', 'श्लील और अश्लील', 'रेखा की भूमिका', 'नदी' के द्वीप का समाज', 'तीसरे शीर्षक में प्रतिष्ठाओं का मूल स्रोत', 'भारतीयता', 'नए लेखक की समस्याएँ', 'पात्र-साहित्य और पुस्तक-साहित्य', 'हिंदी पाठक के नाम', 'चौथे शीर्षक के अंतर्गत अर्थ और यथार्थ', 'लेखक और प्रकाशक', 'जीवन का रस', 'कवि-कर्म: परिधि', 'माध्यम, मर्यादा कठघरे से अंश दान'एवं पांचवे शीर्षक के तहत 'मन से परे', 'मैं क्यों लिखता हूँ?', 'जो न लिख सका', 'शारदीय धुप', 'एकांत' साक्षात्कार निबंध हैं| कुछ निबंध पहले के निबंध संग्रहों से लिए गए हैं- जैसे-शारदीया धूप, नए लेखक की समस्याएं|

अज्ञेय के सम्पूर्ण रचनाओं को समझने यह कृति बहुत ही कारगर है, प्रस्तुत निबंध संग्रह में लेखक के अपने महत्त्वपूर्ण रचनाओं के बारे में, उनके सृजन प्रक्रिया के समय क्या मनः स्थिति रही, पर विस्तार से विचार किया गया हैं| अपनी इस पुस्तक के संदर्भ में लेखक लिखते हैं- "आत्मनेपद निःसंदेह अत्यंत आत्मचेतन (सेल्फकांशस) रचना है| पर आत्मचेतना अनिवार्यता अहंलीन ही होती हो, ऐसा नहीं नहीं है| आत्मचेतन भाव से लिखी गयी होने के कारण ही पुस्तक लेखक की अहम्मन्यता का

[1] वही, पृ.8

स्वीकार! ऐसा नहीं है|"[1] अर्थात यह रचना सेल्फकांशस रचना है, पर लेखक ने कहीं भी आत्म-स्पष्टीकरण नहीं किया है| लेखक कहीं भी अपनी रचनाओं का बखान नहीं करते, बल्कि रचनाओं के बारे में, उनके सृजन प्रक्रिया तथा उसके पीछे प्रेरणा क्या रही, के बारे में बताते हैं, उनके पात्रों को और भी खोलकर हमारे सम्मुख प्रस्तुत करते हैं जिससे हमें उनकी रचनाओं को समझने में काफी सहायता मिलती है| कहीं भी आत्मप्रवंचना है| लेखक ने इसमें उन अप्रकाशित रचनाओं के बारे में भी लिखा जो केवल पन्नों में सिमट कर गई, पाठक तक पहुंची ही नहीं| इसके अतिरिक्त प्रयोग और प्रेषणीयता, प्रतीकों के महत्व, भारतीयता, नए लेखकों की स्थितियों, समस्याओं एवं संभावनाओं, पत्र साहित्य और पुस्तक साहित्य, जीवन का रस, कवि कर्म : परिधि, माध्यम, मर्यादा आदि विषयों पर चर्चा की है|

लेखक की शब्दों के प्रति सजगता से हम सभी वाकिफ़ हैं पर यह सजगता लेखक में बाल्यावस्था से ही थी, इससे बहुत कम लोग ही परिचित होंगे| प्रस्तुत संग्रह में लेखक ने अपनी प्रथम कविता के बारे में उल्लेख करते हुए कहा हैं उन्होंने अपने प्रथम कविता के माध्यम से शब्द की शक्ति को पहचाना और उसके सार्थक प्रयोग में ही सिद्धि मानी| 'भूमिरी' को भूमि पर नाचते देख लेखक ताली पीट-पीट कर गाना शुरू कर देते हैं "नाचत है भूमिरी"," "नाचत है भूमि री|"[2] महज चार वर्ष की अवस्था में दो अर्थ वाले वाक्य के अविष्कार साधारण बात नहीं थी| और यही सजगता अंत तक लेखक में दिखाई देती है| आगे वे काव्य-साहित्यों में प्रतीकों के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए कहते हैं " कोई भी स्वस्थ काव्य साहित्य प्रतीकों की, नयी प्रतीकों की सृष्टि करता है, और जब वैसा करना बंद कर देता है तब जड़ हो जाता है..."[3]

वहीं दूसरी ओर नए कवियों की समस्या पर विचार करते हुए कहते हैं क्या कारण आज नए साहित्यों की चर्चा करते समय हमारी दृष्टि उन्हीं बीस-पच्चीस वर्ष पुराने साहित्यकारों पर ही जाती है| क्यों नहीं हम प्रेमचंद, रेणु, जैनेन्द्र से आगे बढ़ पाए हैं,

---

[1] अज्ञेय, *आत्मनेपद,* भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, तीसरा संस्करण, 2010, पृ. निवेदन-vii

[2] वही, पृ. 16

[3] वही, पृ.31

क्या कारण है आज नए साहित्यकारों में कोई भी नाम इतना चर्चित क्यों नहीं है| इसका कारण बताते हुए लेखक कहते हैं- "अनुभव करता हूँ कि उसकी कहीं जड़ें नहीं हैं, वह उच्छिन्न और अनाधार है; इस प्रकार वह तत्कालिक परिस्थिति का खिलौना बन जाता है है| ऐसा न होता, तो साहित्य में ऐसी स्थिति की कल्पना भी असंभव थी जिस में निकट या दूर, देश या विदेश में कहीं कोई घटना होते ही सारा साहित्यिक कृतित्व मानो बटन दबाकर उधर मोड़ दिया जाए .....यह निगृहता या निर्मूलता नए लेखक की पहली समस्या है|"[1] यहाँ लेखक ने नए लेखक का तत्कालिक परिस्थितियों के सम्मुख स्वयं को समर्पित कर देने तथा उन पर पाश्चत्य के प्रभाव को दर्शाया है| इसी क्रम में लेखक अपने उपन्यास के पात्र रेखा, शेखर, पात्र से पाठक को रूबरू कराते हैं| यहाँ शेखर से लेखक के संवाद को भी दिखाया गया, दोनों के मध्य हुए परस्पर संवाद से शेखर का चरित्र और भी खुल कर सामने आता है|

आगे जीवन के रस पर विचार करते हुए लेखक की यह टिप्पणी बहुत ही महत्त्वपूर्ण है-"मैंने कहा कि समय की दूरी पर सभी कुछ मीठा है क्योंकि सभी कुछ धुंधला भी है-पर जो धुंधला नहीं है, उसे मीठा कहना उतना ही ठीक या बेठीक है जितना उसे कडुवा कहना| वह प्रोज्ज्वल है और इस छोटे रसों से परे है-जीवन का रस कडुवा-मीठा कुछ भी नहीं है, वह राम रस है जिसमें सब रस समाते हैं|"[2]

इस प्रकार लेखक ने साहित्य, कला, जीवन के उन मूल्यों का निरूपण किया है जिसे वे व्यापक रूप से प्रतिष्ठित देखना चाहते हैं, पुस्तक के केंद्र में लेखक के होने के बावजूद भी कहीं भी लेखक स्वयं को प्रमुख नहीं होने देते, कृतियाँ ही प्रमुख रहती हैं| अज्ञेय ने स्वयं इस पुस्तक के निवेदन में लिखा है-"'अपने' बारे में होकर भी यह पुस्तक अपने में डूबी हुई नहीं है-कम-से-कम इसके लेखक की 'कृतियों' से अधिक नहीं!"[3]

कुल मिलाकर 'त्रिशंकु' से लेकर 'कहाँ है द्वारका' तक लेखक प्रायः भाषा, साहित्य, संस्कृति के प्रश्नों से जूझते रहे, बार अपनी मान्यताओं का परिक्षण, पुनर्परीक्षण भी

---

[1] वही, पृ.82

[2] वही, पृ.111

[3] वही, पृ. निवेदन-vii

करते रहे| परंपरा और आधुनिकता के साथ परंपरा के प्रति गहन दृष्टिकोण का परिचय मिलता है| व्यक्ति, समाज और व्यवस्था के अंतर्संबंधों पर निरंतर विचार करते रहे| मूल्यों के प्रति, मनुष्य की गरिमा तथा उनके स्वाधीनता का आग्रह उनके समस्त निबंधों में देखने में मिलता है| लेखक केवल समस्याओं का निरूपण नहीं करते बल्कि उसके समाधान संबंधी विचारों को भी व्यक्त करते हैं| इन निबंधों में हृदय और बुद्धि दोनों का अद्‌भुत सामंजस्य है| शिल्प की दृष्टि से सभी निबंध संग्रह अतुलनीय है चाहे ललित निबंध हो या आलोचनात्मक निबंध| लेखक शब्द प्रयोग में अत्यंत सतर्क, संयत, तथा मितव्ययी प्रवृति के रहे हैं| देशज-विदेशज दोनों ही प्रकार के शब्दों का प्रयोग हुआ है, लालित्य निबंधों में शिल्प के चमत्कार को देखते ही बनता है| इस प्रकार "विचार एवं चिंतन प्रधान तथा आत्मव्यंजन एवं ललित दोनों ही प्रकार के निबंधों को मिला देने पर अज्ञेय का सजग, अनुभव समृद्ध और संवेदनशील व्यक्तित्व उभरकर सामने आता है| इसमें संदेह नहीं है कि 'अज्ञेय' हिंदी के सशक्त निबंधकार हैं| निबंध शिल्प को उन्होंने एक नया आयाम दिया है| उनके निबंध की जिज्ञासा वृति से सीधे जुड़े हुए हैं| इस वृति की चरम परिणिति जीवन की सार्थकता की उपलब्धि में हुई है| उनके निबंध इस उपलब्धि के साक्षी है|" अतः लेखक ने अपने निबंधों में भाषा, शिल्प, शब्द प्रयोग की सजगता, परंपरा, आधुनिकता, यथार्थ, सम्प्रेषण, व्यक्ति, समाज, व्यक्ति-स्वाधीनता आदि प्रासंगिक विषयों पर बारम्बार विचार किया है| हिंदी निबंध साहित्य की प्रचलित रुढियों को तोड़कर निबंध को हलकेपन से मुक्त किया|

तृतीय अध्याय

अज्ञेय के यात्रा-संस्मरण:एक विश्लेषण

3.1 प्रस्तावना

3.2 हिन्दी के यात्रा साहित्य: स्वरूप एवं विकास

3.3 अज्ञेय के यात्रा-संस्मरण के वर्ण्य-विषय

3.3.1 'अरे यायावर,रहेगा याद!'

3.3.2 'एक बूँद सहसा उछली'

तृतीय अध्याय

अज्ञेय के यात्रा-संस्मरण: एक विश्लेषण

3.1 प्रस्तावना

मानव अनादि काल से ही यात्रा करता रहा है। भोजन और जीविका की खोज जैसी स्थूल भौतिक आवश्यकताओं से लेकर सौन्दर्य तथा ज्ञान प्राप्ति जैसे व्यापक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए यात्रा मानव की सहचरी रही है। जैसे-जैसे मनुष्यों का बौद्धिक विकास होता गया वैसे-वैसे यात्रा के उद्देश्यों में भी परिवर्तन होता गया। यात्रा के इसी प्रवृत्ति ने मनुष्य को भ्रमण हेतु प्रेरित किया और 'चरैवेति-चरैवेति' अर्थात 'चलते रहो, चलते रहो' उनके जीवन का मूल मंत्र बन गया। इस संदर्भ में राहुल सांकृत्यायन कहते हैं -"चलना मनुष्य का धर्म है, जिसने इसे छोड़ा वह मनुष्य होने का अधिकारी नहीं है। ...इतना लिखने से मालूम हो गया होगा कि संसार में यदि कोई अनादि सनातन धर्म है, तो वह घुमक्कड़ धर्म है|"[1]

राहुल सांकृत्यायन के इस पंक्ति के साथ इस्माइल की निम्न पंक्ति काफी सटीक बैठती है जिसमें उन्होंने यात्रा की महत्ता को दर्शाते हुए कहा है -

"सैर कर दुनिया की गाफ़िल, जिन्दगानी फिर कहाँ?

जिन्दगी गर कुछ रही तो नौजवानी फिर कहाँ?"

अज्ञेय के यात्रा साहित्य पर विश्लेषण करने से पूर्व यात्रा साहित्य की परम्परा और उसके स्वरूप पर संक्षिप्त विचार करना अपेक्षित है। ताकि हम लेखक के यात्रा साहित्य को और भी अच्छी तरह से समझ पाए|

[1] राहुल सांकृत्यायन - *घुमक्कड़ शास्त्र,* किताब महल, नई दिल्ली, 1857, पृ. 8

3.2 हिन्दी के यात्रा साहित्य: स्वरूप एवं विकास

हिंदी साहित्य में प्रत्येक लेखक ने अपने अनुसार यात्रा साहित्य की परिभाषा दी है, उस पर अपने विचार प्रकट किए हैं, जिनमें से कुछ उल्लेखनीय लेखकों द्वारा यात्रा-वृतांत की परिभाषा निम्न रूप से दी गई हैं-

रामचन्द्र तिवारी के अनुसार-"यात्रा वृत्तों में हम दृश्यों, स्थितियों, व्यक्तियों और आधुनिक तकनीकी ज्ञान के बल पर निर्मित विविध विस्मयकारी परिदृश्यों तथा इनके प्रति लेखक की अनुकूल-प्रतिकूल प्रतिक्रियाओं के साथ-साथ परिचित होते चलते हैं। लेखक की रुचि, संस्कार, मानसिकता और संवेदनशीलता के अनुसार यात्रावृत्तों के बदलते रूपाकार हमारी राग चेतना को निरन्तर उद्वेलित करते चलते हैं|"[1]

वहीं रामस्वरूप चतुर्वेदी यात्रा संस्मरण के संबंध में कहते हैं -"यात्रा संस्मरण अपने मूल यात्रावृत्त रूप में आरंभिक गद्य का एक अपेक्षया प्रचलित माध्यम रहा है। जीवनी, आत्मकथा जैसे एक बिन्दु पर इतिहास का स्पर्श करते हैं, उसी तरह यात्रा संस्मरण का एक पक्ष भूगोल के आकर्षण से जुड़ा हुआ है। देशदर्शन यात्रा संस्मरण की मूलप्रवृति है, जिसमें एक ओर प्रकृति की पुकार है, दूसरी ओर साहसिक जिज्ञासा|"[2] दूसरी तरफ धीरेन्द्र वर्मा के अनुसार - "सृष्टि में चातुर्दिक फैले हुए जगत के अनुपम सौन्दर्य-वैचित्र्य की आश्चर्यमयी परिव्याप्ति में मुक्त और निस्संग भाव से विचरने वाले यात्री साहित्यिक यायावरी के पोषक होते हैं जिसमें प्रधानतः साहसिक जिज्ञासा, प्राकृतिक बोध की दृष्टि से उल्लास की भावना से प्रेरित होकर यात्रा करने वाले

[1] रामचन्द्र तिवारी, *हिन्दी का गद्य साहित्य,* विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 2007, पृ. 410

[2] रामस्वरूप चतुर्वेदी, हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास, लोक भारती प्रकाशन, नई दिल्ली, 2008 पृ. 166

यायावर एक प्रकार से साहित्यिक मनोवृत्ति के माने जा सकते हैं और उसके मुक्त अभिव्यक्ति को यात्रा साहित्य कहा जा सकता है|"[1]

उपरोक्त कथनों के आधार पर कहा जा सकता है कि जब कोई यायावर निस्संग भाव से प्रकृति में विचरण करता है, यदि प्रकृति का कोई कोण उसकी संवेदना को उद्वेलित करता है और यात्री उन अनुभवों को कलात्मक रूप से लिपिबद्ध करता है तो ऐसे साहित्य को यात्रा साहित्य कहा जाएगा, यथा -"यात्रा के क्रम में प्रकृति की छवियाँ, जन-जीवन की झाँकियाँ, चुनौतीपूर्ण परिस्थितियाँ, विभिन्न स्वभाव के चरित्र, विविध ऐतिहासिक स्थल व स्मारक, सांस्कृतिक उपादान और अनेक घटनाएँ संवेदनशील यात्री के मानस को विविध अनुभूतियाँ प्रदान करते हैं। अपने भ्रमण में अर्जित ऐसी ही अनुभूतियों का आस्वादन पाठकों को कराने की प्रेरणा से यात्रा साहित्य का सृजन किया जाता है|"[2] अतः यात्रावृतांत कथेतर गद्य साहित्य की प्रमुख विधा है। इसकी रचना लेखक अपनी जानकारी, निरीक्षण एवं पर्यटन के अनुभव से करता है। यह विधा, कविता, कहानी या उपन्यास की तरह काल्पनिक नहीं है। रामस्वरूप चतुर्वेदी ने इसे 'अकाल्पनिक गद्य रूप' स्वीकार किया है –"इन गद्य वृत्तों का उपजीव्य प्रधानतः वास्तविक घटनाएँ होती है, और इस दृष्टि से परम्परागत अर्थ में कल्पना का योग यहाँ बहुत कम रहता है"[3]

यात्रावृतान्त में लेखक किसी स्थान विशेष के प्रकृति, रस्मों-रिवाज, रहन-सहन, आचार-विचार, मनोरंजन आदि को अपने दृष्टिकोण से व्यक्त करता है। किसी

---

[1] धीरेन्द्र वर्मा, हिंदी साहित्य कोश, भाग-1, ज्ञान मण्डल लि., वाराणसी, 1986 पृ. 512

[2] रेखा प्रवीण उप्रेती, *हिंदी का यात्रा साहित्य(सन् 1960 से सन् 1990),* हिंदी बुक सेंटर, नई दिल्ली, 2000, पृ. 2-3

[3] रामस्वरूप चतुर्वेदी, *अज्ञेय और आधुनिक रचना की समस्या,* भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, छठा संस्करण 2011, पृ. 102

स्थान विशेष का वर्णन करते समय रचनाकार के व्यक्तित्व पर निर्भर करता है कि वह किस तत्त्व को अधिक प्रमुखता दे और किस तत्त्व को कम। इसलिए उसके चित्रण में कहीं विवरण तो कहीं भावों की प्रधानता होती है। अधिकांशतः प्रकृति वर्णन में रचनाकार की शैली भावात्मक हो उठती है। उदाहरण स्वरूप- "मेरे ऊपर फर जाति के विशाल देवदारुओं की छाँह है, और सामने झील का खुला हुआ प्रसार जिसके ऊपर से बहती हुई सनसनाती तेज हवा मेरे कपड़ों को भेदती हुई चली जा रही है। झील सुन्दर है: हवा से मथी जाकर वह और भी सुन्दर हो जाती है। उसकी सफेद झालदार लहरें अनवरत मेरी ओर दौड़ती आती हैं और मेरे पैरों के नीचे झाग में बिखर जाती हैं - अपने साथ उस पिघली हुई दोपहर का सूर्य झील पर बरसा रहा है....|"[1]

यात्री की जिज्ञासा केवल देश की प्राकृतिक परिदृश्य तक ही सीमित नहीं रहती, वह वहाँ के सभ्यता और संस्कृति को भी समझना चाहता है। इसलिए यात्रा साहित्य में सांस्कृतिक छवियों का पर्याप्त अंकन रहता है, साथ ही उस स्थान-विशेष के संस्कृति का वर्णन करते समय लेखक उसकी तुलना अपनी देश की संस्कृति से करता है। लेखक विषय वस्तु का संचालन करते हुए भी स्वयं अदृश्य रहता है। वह पात्र या अन्य माध्यम से अपने आपको अभिव्यक्त करता है, वह स्वयं को केन्द्र में रखकर भी अपने आप को प्रमुख नहीं होने देता, जिससे यात्रा साहित्य आत्मकथा न लगे। इस संदर्भ में धीरेन्द्र वर्मा कहते हैं- "यात्रा साहित्य में स्थान स्वतः प्रधान हो जाते हैं। यात्रा में मिलने वाले पात्र, उनका व्यक्तित्व, इतिहास, कला और संस्कृति आदि तमाम उपकरण भी उसमें स्वयमेव समाहित हो जाते हैं। प्रकृति नयनाभिराम दृश्य, सुरम्य वनखण्डी, नदी-नाले, पर्वत, स्मारक, भगनावशेष, मंदिर-मस्जिद और यात्रा में आए विभिन्न उल्लेखनीय उपकरणों की वस्तुनिष्ठता यात्री को आत्माभिव्यक्ति से बचाती है। वैयक्तिक अभिव्यक्ति की प्रधानता की परिणति यात्रा

[1] सच्चिदानन्द वात्स्यायन, एक बूँद सहसा उछली, भारतीय ज्ञानपीठ, छठा संस्करण 2008, पृ.108.

साहित्य में नहीं, बल्कि आत्मचरित या आत्मसंस्मरण में ही संभव है। इसलिए अपने को केन्द्र में रखकर भी प्रमुख न होने देना साहित्यिक यायावर का व्यक्तव्य है|"[1]

यात्रा साहित्य में लेखक के व्यक्तित्व के संतुलन की चर्चा करते हुए जार्ज सेम्पसन् कहते हैं- "अत्यधिक वैयक्तिकता से पाठक यात्रा को नजरअंदाज कर देता है और अधिक वर्णनात्मकता से पाठक लेखक के व्यक्तित्व को भुला देता है। सफल लेखक को कई दृष्टियों से पाठक को अपने साथ लेकर चलना होता है|"[2]

कुल मिलाकर यात्रा साहित्य में लेखक के व्यक्तित्व का संतुलित समायोजन होना चाहिए। लेखक का व्यक्तित्व ही है जो यात्रा साहित्य में आत्मीयता और रोचकता के भाव का निर्वाह करता है। आत्मीयता ही वह गुण है जो यात्रा साहित्य को विश्वसनीय, भावात्मक और कलात्मक बनाती है। यात्रा के दौरान लेखक जिन स्थानों, स्मारकों, दृश्यों का वर्णन करता है, उनसे वह आत्मीय संबंध स्थापित करता है। यही आत्मीय रिश्ता पाठक को वृतान्त से जोड़ने में सहायक सिद्ध होती है। रोचकता भी एक ऐसा गुण है जो पाठक को वृतान्त से जोड़ने का कार्य करती है। यात्रा वृतान्त में रोचकता के समावेश हेतु लेखक किसी स्थान से जुड़ी लोक कथा, दंत कथा आदि का उल्लेख करता है। इसमें मिथकों, प्रतीकों, अंलकारों और मुहावरों, विम्बों का भी प्रयोग किया जाता है, पर यात्रा साहित्य में अत्यधिक रोचकता के समावेश से यथार्थ को आघात पहुँचने का भय रहता है। इस पर राहुल सांकृत्यायन सचेत करते हुए कहते हैं- "घुमक्कड़ को अपनी लेखनी चलाते समय बड़ा संयम रखने की आवश्यकता है। रोचक बनाने के लिए कितनी ही बार यात्रा लेखक अतिरंजन और अतिश्योक्ति से ही काम नहीं लेते, कितनी ही बार असंभव और असंगत बातें रहस्यवाद के नाम से लिख डालते हैं|"[3]

---

[1] डॉ. धीरेन्द्र वर्मा, *साहित्यकोश, भाग-1,* ज्ञान मण्डल लि., वाराणसी, 1985 पृ .512

[2] मुरलीलाल शर्मा, *हिंदी यात्रा साहित्य: स्वरूप और विकास*, क्लासिकल पब्लिशिंग, नई दिल्ली, 2003, पृ6 .

[3] राहुल सांकृत्यायन, *घुमक्कड़ शास्त्र*, किताब महल, 1957, पृ .33

अतः यह कहा जा सकता है कि वैयक्तिकता, आत्मीयता, रोचकता आदि ऐसे गुण व विशेषता है जो यात्रा साहित्य को पर्यटन सूचना पुस्तिका बनने से बचाती है।

हिन्दी यात्रा-वृतान्त का आरंभ भारतेन्दु से माना जाता है। हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल को गद्य साहित्य के अविर्भाव से जोड़ा गया है। आचार्य शुक्ल ने इस संबंध में कहा है "हमारे जीवन और साहित्य के बीच जो विच्छेद पड़ रहा था उसे उन्होंने (भारतेन्दु) दूर किया....।"[1] इस एक पंक्ति में ही शुक्ल ने एक बड़े परिवर्तन की ओर संकेत किया है। साहित्य के जीवन से जुड़ने का अर्थ ही जीवन की व्यापकता, विविधता और समृतियों का साहित्य में आना। यही कारण है कि इस अवधि में गद्य की कई नई विधाएँ उभर चुकी थी। गद्य साहित्य यथा यात्रा-संस्मरण, निबंध, संस्मरण, जीवनी का आविर्भाव भारतेन्दु युग से माना जाता रहा है। इससे पहले यात्रा-वृतान्त स्वतंत्र विधा के रूप में नहीं लिखे गए। चूँकि हिन्दी के बहुत से महाकाव्यों में नायक के भ्रमण के उदाहरण प्रस्तुत हैं और पर हम उन यात्राओं को यात्रा संस्मरण की श्रेणी में शामिल नहीं कर सकते| क्योंकि उन महाकाव्यों के मूल उद्देश्य, विशेषता, स्वरूप भिन्न रहे हैं|

यात्रावृतांत हिन्दी साहित्य में एक स्वतंत्र गद्य विधा के रूप में सन् 1850 के बाद विकसित हुई। यात्रा साहित्य के सुनियोजित परम्परा का विकास भारतेन्दु हरिश्चन्द्र द्वारा हुआ। भारतेन्दु का यात्रा-साहित्य पत्रात्मक निबंधों के रूप में लिखा गया है। इनके निबंध 1871 ई. से 1879 ई. तक 'कवि वचन सुधा' में प्रकाशित होते रहे। भारतेन्दु ग्रंथावली भाग-6 में इन निबंधों को संकलित किया गया है, जिनमें क्रमशः 'हरिद्वार-1', 'हरिद्वार-2', 'लखनऊ', 'जबलपुर', 'सरयुपार की यात्रा', 'वैद्यनाथ की यात्रा' का वर्णन है। अधिकांशतः यात्राएं धार्मिक उद्देश्यों से किए गए| भारतेन्दु के यात्रा विवरणों में विनोदी स्वभाव, लोकानुरक्ति, व्यंग्य एवं ह्रास का

[1] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य इतिहास, लोकभारती प्रकाशन, नई दल्ल, 2007, पृ. 24

प्राचुर्य है। साथ ही इनके निबंधों में लेखक का सैलानी स्वभाव, मानवतावादी दृष्टिकोण, प्रकृति-प्रेम एवं सरल सहज भाषा शैली सर्वत्र दिखाई देतता है। यद्यपि इन पत्रात्मक निबंधों में वर्णनों की ही प्रधानता है, परन्तु लेखक के काव्यमय व्यक्तित्व तथा अद्‌भुत निरीक्षण कौशल ने उन वर्णनों को रोचक बना दिया है। अपनी वैद्यनाथ यात्रा में मार्ग का वर्णन करते हुए भारतेन्दु जी लिखते हैं-

...पटने पहुँचते-पहुँचते घेर-घार कर चारों ओर से पानी बरसने लगा। बस पृथ्वी-आकाश सब नीर ब्रह्ममय हो गया। इस धूम-धाम में भी रेल कृष्णाभिसारिका सी अपनी ही धुन में चली जाती थी। सच है, सावन की नदी, दृढ़प्रतिज्ञ उद्योगी और जिनके मन प्रियतम के पास है - वे कहीं रूकते हैं?"[1]

पर भारतेन्दु के निबंध में प्रकृति के वर्णनात्मक व स्थूल उदाहरण भी देखे जा सकते है -"बादल के परदों को फाड़-फाड़ कर ऊषा देवी ने ताकझांक आरंभ कर दी। परलोकगत सज्जनों की कीर्ति की भांति सूर्य नारायण का प्रकाश पिशुन मेघों के वागाडम्बर से घिरा हुआ दिखलाई पड़ने लगा। प्रकृति का नाम काली से सरस्वती हुआ ठंढी-ठंढी हवा मन की कली खिलाती हुई बढ़ने लगी। दूर से धनी और काहीरंग के पर्वतों पर सुनहरापन आ चला। कहीं आधे पर्वत बादलों से घिरे हुए, कहीं एक साथ वाष्प निकलने से उनकी चोटियाँ छिपी हुई और कहीं चारों ओर से उनपर जलधारा पात से बुक्के की होली खेलते हुए बड़े ही सुहाने मालूम पड़ते थे|"[2]

भारतेन्दु के यात्रा साहित्य में भाषा के विविध रूपों, प्रकृति की अनुपम छटाओं तथा उनके बहुआयामी व्यक्तित्व की छाप को सर्वत्र देखा जा सकता है। मात्रा में कम होते हुए भी भारतेन्दु का यात्रा साहित्य गुणवत्ता की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

---

[1]ओम प्रकाश(सं.पा.) *भारतेंदु हरिश्चंद्र ग्रंथावली-6,* प्रकाशन संसथान, दिल्ली, 2008, पृ.18

[2] वही, पृ.19

इसी समय अन्य साहित्यकारों में पं. बालकृष्ण भट्ट का 'कतिकी का नहान' तथा 'गया यात्रा', पं. प्रतापनारायण मिश्र का 'विलायत यात्रा', भगवानदास वर्मा के 'लन्दन का यात्री' (1884), पं. दामोदर शास्त्री का 'मेरी पूर्व दिग्यात्रा' (1885) और 'मेरी दक्षिण दिग्यात्रा' (1886) आदि उल्लेखनीय यात्रा निबंध है। स्वामी सत्यदेव परिव्राजक हिंदी यात्रा साहित्य के प्रमुख लेखकों में से एक है। निरन्तर घूमना और यात्रा संस्मरण लिखना स्वामी जी का स्वभाव था। इनके प्रमुख यात्रा ग्रंथ निम्नलिखित है – 'अमरीका दिग्दर्शन' (1911), 'मेरी कैलास यात्रा' (1926), 'यात्री मित्र'(1936), 'यूरोप की सुखद स्मृतियाँ' (1937), 'ज्ञान के उद्यान में' (1937), 'अमेरिका प्रवास की मेरी अद्‌भुत कहानी' (1937), 'स्वतंत्रता की खोज में' (1951), 'मेरी पाँचवी जर्मनी यात्रा' (1955) आदि। स्वामी सत्यदेव परिव्राजक हिंदी यात्रा साहित्य के प्रमुख लेखकों में से एक हैं। स्वामी जी के यात्रा साहित्य में राष्ट्रीय भावना, प्रकृति प्रेम, यायावरी वृत्ति का प्रस्फुटन, ज्ञान प्राप्ति की उत्कट लालसा सर्वत्र देखी जा सकती है। उनके यात्रा वर्णनों में उनका साहित्यिक व्यक्तित्व सर्वत्र व्याप्त है।

स्वामी जी को प्रकृति से सहज अनुराग रहा है। परिवेशांकन में उनका भावपूर्ण व्यक्तित्व अधिक मुखर हो उठा है, साथ ही सूक्ष्म निरीक्षण कौशल भी उनके प्रकृति चित्रणों में सर्वत्र मिलता है। 'मेरी जर्मन यात्रा' ग्रंथ में राइन नदी का बड़ा ही सुन्दर वर्णन किया है, यथा-"पहाड़ी चट्टानों की तंग घाटी में प्रवेश कर राइन नदी एक लज्जावती रमणी की तरह बड़े संकोच से आगे बढ़ती है। यह मार्ग इतना संकीर्ण है कि इसके किनारे पर कई स्थानों में रेल और सड़क के लिए बड़ी मुश्किल से जगह मिली है। नदी की सारी जीवन यात्रा का यह सबसे अधिक सुखद और रम्य भाग है। यहाँ प्राचीन गढ़ियों में खण्डहर, विचित्र पर्वत-शृंग, खिलखिलाती अंगूरों की बेलें और

अद्‌भुत कन्दराएँ इतनी हैं कि जिनके कारण राइन नदी प्रकृति के पुजारियों और नैसर्गिक सौन्दर्य के उपासकों की अत्यन्त प्यारी हो गई है|"[1]

स्वामी जी ने अपने देश के साथ पश्चिमी देशों की यात्राएँ करके वहाँ के जीवन संस्कृति और तथाकथित आधुनिक जीवन की विद्रुपताओं का भी चित्रण किया है। एक भारतीय सन्यासी के रूप में पश्चिमी देशों की यात्रा में लेखक को काफी बाधाओं का सामना करना पड़ा, जिसका वर्णन लेखक ने किया है। स्वामी जी ने केवल यात्रावृतान्त ही नहीं लिखे, अपितु 'यात्रा मित्र' जैसे उद्बोधक ग्रंथ लिखकर भावी पीढ़ी को यात्रा करने और यात्रा वर्णन लिखने के लिए प्रेरित किया।

वैचारिकता, भावुकता, मुक्त प्रगतिशील जीवन दृष्टि, राष्ट्र प्रेम, एवं प्रकृति सौन्दर्य के प्रति गंभीर अनुराग उनके यात्रा साहित्य में सर्वत्र दर्शनीय हैं| विश्व भर के समाजों के व्यवहार, जीवन शैली, तीज त्यौहार सभी स्वामी जी के यात्रा साहित्य में सहज ही वर्णित देखे जा सकते हैं।

यात्रावृत्त लेखन में राहुल सांकृत्यायन का अन्यतम स्थान है। वे पक्के घुमक्कड़ व अथक यायावर थे। साहित्य तथा दर्शन के क्षेत्र में राहुल सांकृत्यायन की प्रतिभा बहुमुखी रही है, पर स्वयं उन्होंने भ्रमण को अपने जीवन का साध्य माना है और उसे ही लेखन का प्रेरणास्त्रोत स्वीकार किया है "इस यात्रा ने ही मेरे हाथ में जबरदस्ती कलम पकड़ा दी और स्वयं ही लेखन शैली बनती गई। कलम के दरवाजे को खोलने का काम मेरे लिए यात्राओं ने ही किया, इसीलिए में इनका बहुत कृतज्ञ हूं|"[2]

राहुल सांकृत्यायन की प्रमुख कृतियाँ है - 'मेरी लद्दाख यात्रा' (1926),'लंका यात्रावली'(1927), तिब्बत में सवा वर्श (1933), 'मेरी यूरोप यात्रा' (1935), 'मेरी तिब्बत यात्रा' (1934), 'यात्रा के पन्ने' (1934), 'जापान' (1934), 'ईरान'

---

[1] परिव्राजक, *योरोप की सुखद स्मृतियाँ*, सत्य ज्ञान निकेतन, 1945, पृ. 108

[2] राहुल सांकृत्यायन, *एशिया के दुर्गम भूखंडों में*, नवभारती प्रकाशन, नई दिल्ली, 1956, पृ. भूमिका.

(1937), 'मेरी लद्दाख यात्रा' (1939), 'किन्नरदेश में' (1948), 'घुमक्कड़ शास्त्र' (1949), 'यात्रा के पन्ने' (1952), 'रूस के पच्चीस मास' (1952), 'हिमालय परिचय'(1953)।

राहुल सांकृत्यायन ने भारत के विभिन्न भू-भागों की जमकर यात्राएँ की और भारत की सांस्कृतिक धरोहर को निरन्तर पुनर्जीवित किया। उन्होंने सम्पूर्ण भारतवर्ष के अतिरिक्त नेपाल, श्रीलंका, इंग्लैण्ड, पेरिस जर्मनी, तिब्बत जापान, कोरिया, ईरान, रूस आदि विभिन्न देशों का भ्रमण किया। राहुल जी ने अपने यात्रा साहित्य में देश-विदेश की प्रकृति, पुरातत्त्व, इतिहास, भाषा, भूगोल, संस्कृति, समाज, धर्म, आचरण-व्यवहार आदि अनेक पक्षों का उद्घाटन किया है। 'मेरी यूरोप यात्रा' में राहुल जी ने कोलम्बो से प्रस्थान करके यूरोप दर्शन, लन्दन टावर, कैम्ब्रिज - विश्वविद्यालय, आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय, पेरिस, जर्मनी आदि स्थानों का रोचक वर्णन कर लिपिबद्ध किया है। साथ ही साथ अपने देश की संस्कृति से यूरोप की संस्कृति की तुलना भी की है। वे कहते हैं – "स्विटजरलैण्ड का विशेष सौन्दर्य पहाड़ पर बड़ी-बड़ी झीलें होने के कारण है। अगर उदयपुर का मौसम नैनीताल की तरह होता, तो इससे मिलता-जुलता आनन्द वहाँ मिल सकता था|"[1]

'मेरी तिब्बत यात्रा' में तिब्बत के कई स्थानों जैसे लहासा, चाड़, सक्य, जेनम् नेपाल आदि की यात्राओं का सुन्दर वर्णन किया गया। उन्होंने तिब्बत के जनजीवन, रहन-सहन, संस्कृति की झाँकी ही नहीं उतारी अपितु वहाँ रहकर ऐतिहासिक ग्रंथों की खोज की और उसका विस्तृत वर्णन किया।

[1] राहुल संकृत्यायन, *मेरी यूरोप यात्रा,* नवभारती प्रकाशन, दिल्ली, 1932, पृ.111

'रूस में पच्चीस मास' राहुल की प्रख्यात यात्रा पुस्तक है। इस पुस्तक में ईराक, तेहरान, रूस, लेनिनग्राद आदि की यात्राओं का पूर्ण विवरण दिया गया है। अनेक स्थानों पर तो यह तय कर पाना कठिन होता है कि यह यात्रा साहित्य है या आत्मकथा। परन्तु उन सभी वर्णनों में लेखक के व्यक्तित्व की छाप पुस्तक की रोचकता को बनाए रखती हैं। उदाहरण के लिए इस पुस्तक में लेखक ने रूस में अपने प्रोफेसर के जीवन का रोचक वर्णन किया है। यही नहीं लेखक अपनी पत्नी लोला के साथ किस प्रकार अपनी गृहस्थ जीवन में पचास डिग्री के तापमान में बहने वाले तथा सुई की तरह चुभने वाले पानी में कैसे बर्तन साफ करते हैं, इसका भी वर्णन करते हैं| ये सारे वर्णन रोचकता और आत्मीयता तो पैदा करती हैं ही, एक पृथक जीवन की ओर संकेत भी करती हैं। राहुल सांकृत्यायन ने भारत के विभिन्न भू-भागों की जमकर यात्राएँ की और घुमक्कड़ी को उन्होंने संसार का सबसे बड़ा धर्म कहा है और इस धर्म को समर्पित करते हुए 'घुमक्कड़ शास्त्र' नामक एक ऐसे उद्बोधक ग्रंथ की रचना की| जिसने न केवल घुमक्कड़ी के महत्त्व को प्रतिपादित किया, अपितु युवा पीढ़ी को भ्रमण हेतु प्रेरणा दी। यात्रा साहित्य की परम्परा का अवलोकन करें तो हमें ज्ञात होगा कि यात्रा साहित्य तो निरन्तर लिखा गया है, पर इस पर कोई विधिवत सैद्धान्तिक साहित्य अब तक नहीं लिखा गया था केवल राहुल सांकृत्यायन के 'घुमक्कड़ शास्त्र' को छोड़कर। स्वयं राहुल जी ने कहा है-"घुमक्कड़ शास्त्र' के लिखने की आवश्यकता मैं बहुत दिनों से अनुभव कर रहा था। मैं समझता हूँ और भी समानधर्मा बंधु इसकी आवश्यकता को महसूस करते रहे होंगे। घुमक्कड़ी का अंकुर पैदा करना इस शास्त्र का काम नहीं; बल्कि जन्मजात अंकुरों की पुष्टि, परिवर्धन तथा मार्ग-प्रदर्शन इस ग्रंथ का लक्ष्य है|"[1]

राहुल सांकृत्यायन के बाद यात्रा साहित्य की परम्परा में अज्ञेय का नाम उल्लेखनीय रहा है।

---

[1] राहुल सांकृत्यायन, *घुमक्कड़ शास्त्र,* किताब महल, दिल्ली, 1957, पृ. भूमिका 24.इस पुस्तक में लेखक ने घुम्मकड़ी के महत्त्व को दर्शाते हुए घुमक्कड़ी के लिए क्या-क्या आवश्यक है, पर भी विचार व्यक्त किया गया है|

3.3 अज्ञेय के यात्रा-संस्मरण

अज्ञेय साहित्य के विराट भारतीय मेधा की बौद्धिक और सृजनात्मक ऊँचाइयों का एक चुनौतीपूर्ण और गौरवमयी शीर्ष बिन्दु हैं। हिंदी साहित्य की अधिकांश विधाओं की समर्थता और समृद्धि की प्रतीक अज्ञेय की रचनाधर्मिता में महान कवि, मूर्धन्य कथाकार-प्रखर आलोचक, अद्वितीय शिल्पी, अथक यायावर और आस्थावान चिंतक की कतिपय मौलिक संकल्पनाएँ विद्यमान है। सतत् प्रयोगशीलता के आग्रही अज्ञेय के यात्रा साहित्य में प्रवृत होने से इस दिशा में एक नया मोड़ आया। भाषिक सर्जनात्मकता, देशी आत्मगौरव और सूक्ष्मतर संवेदन आदि विभिन्न उपादानों के माध्यम से उन्होंने यात्रा साहित्य के अंतरंग तत्त्वों को एक व्यवस्थित संगति दी। उन्होंने यात्रावृत और संस्मरण की विधाओं को मिलाकर यात्रा संस्मरण की नयी परिकल्पना दी है। स्वातंत्र्योत्तर कालखंड में प्रकाशित यायावर 'अज्ञेय' की कृतियाँ (1) 'अरे यायावर, रहेगा याद!' (2) 'एक बूंद सहसा उछली' गुणात्मक रूप से द्वीपस्तंभ है। यह दो ऐसी कृतियाँ है जिन्होंने हिंदी यात्रा साहित्य के स्वरूप को एक नया आयाम दिया है। पहली कृति में उनके भारत भ्रमण से संबंधित वृतान्तों का सचित्र आकलन है। तो दूसरी कृति यूरोप से संबंधित है।

3.3.1 'अरे यायायावर, रहे याद'!

अज्ञेय में यायावरी का अंकुर बचपन में अंकुरित हो चुका था। इसका कारण- "बाल्यकालीन परिवेश का दूसरा रूप था| पिता के बार-बार स्थानान्तरण के कारण एक ऐसे अवसर का अनायास मिलते रहना जिससे अज्ञेय विभिन्न जगहों के अनुभव से परिचित हो सके। इस परिस्थिति ने अज्ञेय में यायावरी वृति को जन्म दिया और यायावरी वृत्ति ने अनासक्ति को|"[1]

[1] राम कमल राय, *शिखर से सागर तक, अज्ञेय की जीवन यात्रा*, नेशनल पब्लिशिंग हाउस,नई दिल्ली, पृ.22

फलस्वरूप अज्ञेय ने भारत के कई स्थानों जैसे श्रीनगर, नालंदा, पटना,लाहौर, लखनऊ, बड़ौदा, मद्रास, उटकमंड, असम, पंजाब आदि भ्रमण किया। देश के साथ-साथ पूरे भूमंडल की अनेक बार यात्राएँ की - यूरोप, अमेरिका, दक्षिण-पूर्व एशिया में अरसे-अरसे तक रहे। अज्ञेय के यात्रा साहित्य ही नहीं केवल अथक यायावरी के परिचय देते हैं बल्कि कविताओं व कहानियों में भी एक यात्रा एक अन्तर्यात्रा चलती रहती है। 'हरी घास पर क्षण भर' की 'दूर्वाचल' की इन पंक्तियों को देखकर अज्ञेय की सृजनात्मक यायावरी प्रवृत्ति का परिचय होता है-

'पार्श्व गिरि का नम्र, चीड़ों में

डगर चढ़ती उमंगों सी।-

बिछी पैरों में नदी ज्यों दर्द की रेखा।

विहग शिशु मौन नीड़ों में।

मैंने आँख भर देखा

दिया मन को दिलासा, पुन: आऊंगा

दिन अनगिन युगों के बाद।

क्षितिज ने पलक सी खोली,

तमक कर दामिनी बोली-

'अरे यायावर, रहेगा याद!' का शीर्षक उपरोक्त कविता की अंतिम पंक्ति का ही आधार है। इसका प्रकाशन सन् 1953 में हुआ और बढ़ती लोकप्रियता के कारण पाँच बार इस पुस्तक का पुनः संस्करण हुआ। इस यात्रा साहित्य के अधिकांश वृत्तों के

संकलन और प्रकाशन में एक व्यापक अंतराल रहा है। 'अरे यायावर,रहेगा याद!' की कुछ यात्राएं स्वाधीनता के बहुत पहले की थीं, जिनका प्रकाशन स्वाधीनता के बाद हुआ। दूसरे संस्करण की 'भूमिका' में अज्ञेय ने लिखा है -

"देश के विभाजन से पुस्तक के पहले लेख (परशुराम से तूरख़म) में वर्णित यात्रा-पथ का एक बड़ा भाग देश से कट गया था। और देश की मर्यादा रेखा खैबर-पार से सिकुड़कर अमृतसर लाहौर के बीच आ गयी थी। एक बड़े भूकम्प के कारण वह पहाड़ ही धँस गया था जो ब्रह्मापुत्र का आवर्त बनकर परशुराम कुण्ड को आकार देता था|"[1] अंत में एक नया लेख - 'सागर-सेवित, मेघ मेखलित' जोड़ा गया है। लेखक की आकांक्षा रही थी कि वे वह पूरे देश को पूर्व से पश्चिम तक, दक्षिण से उत्तर तक देखे। उत्तर के सारे राज्यों का भ्रमण तो उन्होंने कर लिया था, पर दक्षिण बाकी रह गया था, जो अंतत पूरा कर लिया गया| "परशुराम से तूरख़म की यात्रा से पूरब और पश्चिम के कुलाबे तो मिला लिए थे, पर उत्तर-दक्खिन के छोर मिलाने की आकांक्षा को और प्रेरणा ही मिली थी। अंततः वह यात्रा भी हो गयी और फ़ौजी 'कानबाई' के सहारे नहीं, स्वेच्छा से निर्धारित पथ और गति से|"[2] यायावर को केवल कुलावे मिलाने से संतोष नहीं है, जब तक पूरी संग्रथित वृत्त एक ही सूत्र व प्रवाह में प्रवाहित न हो। क्योंकि लेखक का मानना है केवल भौगोलिक प्रसार यात्रा-वृत्त का निर्माण नहीं कर सकता। जब तक वह एक लय में न हो। लेखक के शब्दों में "केवल छोर मिलाना भी काफी नहीं जान पड़ा, जब तक कि बीच की पूरी लड़ी भी एक संग्रथित इकाई में जुड़ी हुई न दिख पड़े। केवल भौगोलिक प्रसार की चादर पर यात्रा पथ की गोट टांक देना भी काफी नहीं लगता, जब तक कि उसके द्वारा कोई आकार उभर कर न आए|"[3] यथा अज्ञेय के लिए यात्रावृत्त मात्र: भौगोलिक और प्रादेशिक जानकारी

---

[1] अज्ञेय, *अरे यायावर, रहेगा याद !,* नैशनल पब्लिशिंग हाउस, द्वितीय संस्करण, 1975, पृ. भूमिका

[2] वही, पृ. भूमिका

[3] वही, पृ. भूमिका

देने वाली विधा नहीं है। यह वह विधा है जिसके माध्यम से हम सांस्कृतिक-सामाजिक परिवेश, ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, रहन-सहन, धार्मिक मान्यताएं, प्रचलित परम्पराओं आदि से अवगत होते हैं| जिसका उल्लेख उन्होंने अपनी इस कृति में करते हुए कहा है- " 'अरे यायावर, रहेगा याद!' जैसी पुस्तकों को उनसे मिलने वाली भौगोलिक अथवा प्रादेशिक जानकारी के लिए नहीं पढ़ा जाएगा। ऐसे यात्रा संस्करण 'टूरिस्ट गाइड' का स्थान लेने के लिए नहीं लिखे और पढ़े जाते। ऐसी पुस्तकों में प्रस्तुत ब्यौरा एक व्यक्ति की यात्रा का ब्यौरा हेाता है, और वह यात्रा जितनी बाहरी होती है उतनी ही भीतरी भी। यात्रा का विवरण जितना स्थल भू-विस्तार से संबद्ध है उतना ही सूक्ष्म भूगोल से भी|"[1]

अपने प्रसिद्ध काव्य की पंक्ति को कृति का शीर्षक बनाकर लेखक बारम्बर मानव मन और प्रकृति के अंतर्संबंधों की अभिव्यक्ति करता है। साथ ही इस यात्रावृतान्त में लेखक ने भारतीय प्रकृति, ऐतिहासिक धरोहर, सांस्कृतिक मूल्यों पुरातात्विक अवशेष से अवगत कराने की भरसक कोशिश की है। भारतीय लोक पौराणिक आख्यानों और किंवदन्तियों से लेखक बहुत गहरे तक अभिसिंचत रहा है। धार्मिक स्थान से जुड़े पौराणिक आख्यानों, मिथकों आदि को यायावर प्रसंगवश समेटता चलता है।

साहित्य रचना के क्षेत्र में अज्ञेय की प्रतिभा बहुमुखी रही है। उनकी संवेदनाशील चिन्तन, अनुभव समृद्ध और कलात्मक बोध से युक्त लेखनी ने जिस भी विधा को स्पर्श किया, उसनें अपनी एक विशिष्ट पहचान बनाई है| यायावर के रूप में भी अपनी प्रतिभा का परिचय देते हुए अज्ञेय ने यात्रा-साहित्य की विधा को नवीन रचनात्मक आयाम देने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। जो आने वाली पीढ़ि को हमेशा ही प्रेरित करता रहेगा। "अज्ञेय का यात्रा साहित्य हिंदी साहित्य की अक्षय

[1] वही, पृ. भूमिका

निधि है -एक ऐसी अक्षय निधि जिसमें आगे आने वाली पीढियां प्रेरणा की सुगंध पाती रहेगी|"[1]

अज्ञेय का 'अरे यायावर, रहेगा याद!' यात्रा संस्मरण कई धरातलों को एक साथ स्पर्श करता है। प्रकृति के दृष्टि से यह कृति एक बेजोड़ कृति है। यात्री जब किसी देश, भू-भाग का यात्रा करता है तो सर्वप्रथम उस स्थान विशेष का सौन्दर्य स्वरूप ही रचना का उपजीव्य बनता है। यह बात इस कृति के लिए भी लागू होती है। लेखक को कभी घने बीहड़ जंगल, हरे भरे मैदान, ऊँची हिमाच्छदित श्रृंखलाएं, पर्वत, नदियां, झरने आकर्षित करते हैं तो कभी सागर और यहीं सौन्दर्य उनकी इस कृति में प्रतिबिम्बत होता है। अज्ञेय वैसे भी स्वयं को 'वन का छन्द' मानते रहे हैं। उनका मन जितना गाँव, शहर में नहीं रमता उतना बीहड़ जंगलों, पर्वतों, पहाड़ों, झरनों में अधिक रमता है।

अज्ञेय के यात्रा साहित्य में वर्णित प्राकृतिक सौन्दर्य में उनके कवि रूप की दृष्टि रागात्मक परिपार्श्व में अभिव्यंजित होती हैं। यह कृति प्राकृतिक वैविध्य की अनोखी झाँकी का बेजोड़ प्रमाण है। कृति की शुरूआत ही प्रकृति कविता 'पाश्र्व गिरि के नम्र चीड़ों में...' से होती है। शीर्षक से ही अनुमान लगाया जा सकता है कि लेखक को प्रकृति के प्रति कितना रुचि व आकर्षण है। शीर्षक में प्रकृति यायावर से पूछता है क्या तुम्हें यह पर्वत, घने बीहड़ जंगल, नदियाँ याद रहेंगी? "पुस्तक का शीर्षक भी मनुष्य के ऊपर प्रकृति के व्यंग्य को ही ध्वनित करता है। इस कृति में प्रकृति के प्रति उत्सव का घना भाव है, और है सम्मोहन का गहरा रूप|"[2] प्रकृति के प्रति इसी सम्मोहन व प्रकृति की गूँज को जगह-जगह इस कृति में सुना जा सकता है। लेखक यह

---

[1] कृष्णदत्त पालीवाल, *आलोचक अज्ञेय की उपस्थिति,* वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2011, पृ. 136

[2] रामस्वरूप चतुर्वेदी, *अज्ञेय और आधुनिक रचना की समस्या,* भरतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, छठा संस्करण, 2011, पृ. 105

अनुभव करता है कि यायावर के मन में प्रकृति की गूँज इतनी है कि उसे सर्किट हाउस के कमरे के दीवारे भी नहीं रोक पा रही है। यथा "जो जंगल की पुकार गुँजती है, उसे सर्किट हाउस की दीवार नहीं रोक सकती...."[1]

प्रकृति वर्णन के समय कभी अज्ञेय भावुक हो जाते हैं तो कभी उसका मानवीकरण करते हैं। पर कहीं भी प्रकृति का साथ नहीं छोड़ते। पूरे संस्मरण में उसके साथ ही चलते हैं। कहीं-कहीं लेखक इतने भावुक हो जाते हैं कि प्रकृति वर्णन में काव्यात्मकता के गुण का समावेश हो जाता है। जिसके कारण रूपक अलंकारों के गुण मिश्रित हो गया है, उदाहरणस्वरूपः-

"जंगल में बीच-बीच में खुला घास भरा प्रदेश आ जाता है, जिसमें महाकाय सेमल के धवल-गात पेड़ मानो आगमिषयत रक्त प्रसूनों की सुलगती हुई पूर्वानुभूति से कंटकित हो रहे थे; और कहीं-कहीं किंशुको के झुरमुट। कुछ ही दिन में इन में आग खिल जाएगी; पहाड़ियों के पाश्र्व की चिपटती हुई, लपलपाती एक के बाद एक रूख को लीलती हुई ऊपर तक फैल जाएगी, और बालुका के पीले उत्तरीय में लिपटा हुआ ब्रह्मपुत्र का नील गात, मानो वसंत श्री के लाल चुंबनों से मुद्रांकित हो उठेगा। फिर धीरे-धीरे नद उमगेगा और उसका उदबुद्ध पौरुष आस-पास के प्रदेश का लील लेना चाहेगा - लील लेगा - और अपनी सफलता के खेद से खिन्न और गंदला हो उठेगा...|"[2]

अज्ञेय अनुभव करते है कि यायावर के हृदय में हिमालय के प्रति स्नेह, प्रेम व आदर है, उन्होंने उसे नदी के माध्यम से व्यक्त किया है। नदी जो अपने चरम निष्पति के खोज में महासागर में समाहित होने के लिए निकली है, परन्तु यायावर के आभास होता है कि नदी आगे बढ़ के अभिनिष्क्रमण का निश्चय करके भी पीछे मुड़कर हिमालय का दर्शन कर लेना चाहती है उसका अभिवादन करना चाहती है जिसके

---

[1] अज्ञेय, अरे यायावर रहेगा याद ?, नेशनल पेपरबैक्स, 2009, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, पृ. 9

[2] वही, पृ. 6

आश्रय में उसने अपनी आधी यात्रा पूरी की है। "नद सब समतल भूमि में प्रविष्ट होता है तब, मानो महासागर में अपनी चरम निष्पत्ति की खोज में अभिनिष्क्रमण का निश्चय कर के भी, एक बार वह पीछे मुड़ कर महान स्थित- चेता हिमालय का दर्शन कर लेना चाहता है जिस के आश्रय में उसने अपनी लगभग आधी यात्रा हंसते-खेलते-उछलते-कुदते ही तय कर ली है। मंडलाकर घूमकर, हिमालय की चरण रज लेकर, फिर वह धीरे गति से आगे बढ़ जाता है|"[1]

लेखक ने प्रकृति का स्थूल वर्णन न करके, प्रकृति के अन्तःस्पन्दन का सूक्ष्म अंकन किया है। प्रकृति के छिपे हुए इतने सौन्दर्य-स्तरों की खोज की, जो उनके बौद्धिकता का परिचायक है। प्रकृति का मानवीकरण करते हुए कहते हैं -

"सारा ढलान उनसे छाया हुआ था और दूर पेड़ों के झुरमुट के भीतर तक फूल ही फूल दीख रहे थे - और उस के आगे धुंध की दीवार। उनकी असंख्य चकित आंखें नीचे जमी बर्फ़ की निहार रही थीं, मानो अपलक विस्मय से कि कठोर भूमि ही इस रूपश्री की जननी है|"[2] यहाँ प्रकृति के साथ रागात्मक संबंध बनाते हुए उसके साथ तदात्म्य स्थापित करते हैं। अमलतास का नाम 'अमलतासी' रखते हैं। "भारत के सीमान्त पहुँचकर उसका नाम रहता है 'अमतलासी'...और यही नाम सबसे मधुर लगा और पीछे इतना सजीव हो आया कि अब भी उसका मन पीछे देखता है तो अमलतासी को याद करता है|"[3] तो वहीं यायावर प्रकृति का कल्पनात्मक वर्णन करते हुए कहते हैं- "दिन भर बादल घिरे रहे थे, यद्यपि वर्षा नहीं हुई थी और बीच-बीच में धूप झलक जाती थी। उस समय हल्के सफेद बादलों से घिरी हुई मनाली ऐसी सोहती थी मानो किसी आकाशवासी जौहरी ने धुनी रूई में लपेट कर बढ़िया पन्ना रख दिया हो।

---

[1] वही, पृ. 7

[2] वही, पृ. 29

[3] वही, पृ. 22

लेकिन अब एक और भी विस्मयकारी दृश्य सामने आ रहा था – जिस ओर बादल ज़रा खुलते थे उसी ओर उनके अवगुंठन के बीच में से अछूती, 'अक्षत-यौवना' हिमचोटियाँ दीख जाती थीं। तब यह मालूम हुआ कि आकाशवासी जौहरी ने रूई से लपेट देना ही पर्याप्त नहीं समझा, पन्ने की रक्षा के लिए उसके सब ओर विराट हिमशृंग ला खड़े किए हैं - और जिस ओर वे नहीं है उस ओर व्यास नदी का प्रवाह है|"[1] यहाँ प्रकृति का वर्णन बड़ा ही रोचक बन पड़ा है।

लेखक कोरे प्रकृति का वर्णन नहीं करते हैं। यहाँ प्रकृति गहरे व घनिष्ठ रूप में संस्कृति से संपृक्त है। दोनों का आत्मराग मिलकर जीवन को बड़ा करता है। कोंसर नाग के नीले पोस्त के माध्यम से लेखक लिखते हैं – "हल्के नीले रंग एक पोस्त का फूल। सुन रखा था कि पहाड़ों में हिमरेखा के आस-पास यह नीला पोस्त पाया जाता है और इसे पाना शुभ होता है। बर्फ और पत्थर को भेद कर यह कोमल सौकुमार्य निकलता है। इतनी तपस्या के बाद जो अवतीर्ण हो, उसका पाया जाना शुभ तो होना ही चाहिए|"[2]

यायावर बार-बार प्रकृति को आश्वासन देता है कि वह फिर आएगा पर उसे भी पता है कि एक बार जाने के बाद फिर आना नहीं होता है। वह जानता है कि काल की दिशा कभी नहीं लौटती। फिर भी वह आश्वासन देता है- यह संभव है कि "घटना की आवृत्ति होती है, अनुभूति की नहीं....अनुभूति की आवृत्ति पुनरानुभूति केवल स्मरण में है|"[3] यहाँ लेखक शीर्षक में प्रकृति के माध्यम से किए गए व्यंग्य भरे प्रश्न अरे यायावर, रहेगा याद? का जवाब भी दे डालता है कि प्रकृति को कालान्तर में कभी नहीं भूलेगा। हमेशा याद रखेगा।

---

[1] वही, पृ. 96

[2] वही, पृ. 67

[3] वही, पृ. 61

कहीं-कहीं वे प्रकृति का इतिवृत्तात्मक वर्णन भी करते हैं। इसका कारण यह नहीं है कि उनका मन प्रकृति में रमा नहीं है, बल्कि अल्प समय व कार्य के दबाव के कारण वे उस स्थान विशेष के प्रकृति का अधिक समय तक साक्षात्कार नहीं कर पाए हैं। इसलिए वहाँ वे जस का तस वर्णन करते हैं।

किसी भी देश की सभ्यता और संस्कृति को जानने के लिए उसके वर्तमान स्वरूप के परिचय के साथ-साथ अतीत की समझ आवश्यक होती है। किसी भी ऐतिहासिक स्थल व स्मारक के सौन्दर्य को तभी पहचाना जा सकता है जब उससे जुड़ी इतिहास की जानकारी पहले से अर्जित कर ली गई हो। अज्ञेय को यह ज्ञान कुछ तो पिता के पुरातत्त्ववेता होने के कारण प्राप्त था और कुछ स्वयं से। वे कहते हैं – "जन्म से ही मेरा संबंध प्राचीन स्थलों और पुरावशेषों से रहा। यह संयोग की बात थी कि जिस स्थल पर जन्म हुआ वह बुद्ध का परिनिर्वाण स्थल था; पर जब होश संभाला तब से ऐसे अनेक स्थलों का सान्निध्य प्राप्त हुआ जिनके साथ शिव और पार्वती के पौराणिक संदर्भ जुड़े हुए थे। कुछ उन स्थलों का और कुछ उनके माहात्म्य का परिचय पा कर पौराणिक संदर्भों के प्रति जिज्ञासा बढ़ती रही है। घर ही में पिता के विशाल पुस्तक-संग्रह ने इसकी निर्बाध सुविधा दी कि इन संदर्भों की जानकारी बढ़ाता रहूँ। फिर नृतत्त्व और मिथक के अध्ययन से इनकी गहनतर अर्थवत्ता के प्रति कौतूहल भी बढ़ा और सम्मान भी..."[1]

वात्सयायन जी इस कृति में वर्तमान परिदृश्य को प्रस्तुत करने के साथ-साथ वहाँ ऐतिहासिक परिदृश्य का भी वर्णन करते हैं| महलों, किलों, खण्डहरों, समाधियों, प्राचीन सांस्कृतिक या राजनैतिक नगरों का वर्णन करते हुए उनसे संबंधित इतिहास का भी वर्णन करते है। साथ ही लेखक ने स्थान विशेष से जुड़ी किंवदन्तियाँ, गाथाएँ आदि उद्धृत किया है| पर एक ऐतिहासिक दृष्टि से नहीं, साहित्यिक दृष्टि से वर्णन करते हैं। यायावर जहाँ-जहाँ जाता है उस स्थान विशेष के

[1] वही, पृ. 137

नाम के व्युत्पत्ति से संबंधित इतिहास को उद्धृत करता है। इसके लिए वे उससे संबंधित ग्रंथों, पुराणों, हस्तलिखित ग्रंथों का अध्ययन करते हैं। यथा "असमीया भाषा भी एक बुरंजी (हस्तलिखित ग्रंथ) से विदित होता है कि उसने शक सं. 1146 (ईसवी 1244) में राज्य ग्रहण किया।.....रत्नध्वज का एक पुत्र उस समय बंगाल में गौड़ेश्वर राजा के पास शिक्षा के लिए रहता था। उस कुमार की बंगाल में ही मृत्यु हो गयी। सुतिया राजाओं की दाह-संस्कार विधि से अनभिज्ञ होने के कारण गौड़ेश्वर ने कुमार का शव उसके पिता के पास भेजने का निश्चय किया। रत्नध्वज तब लुहित के तट पर सिंधुक्षेत्र में एक नया महल बनवा रहा था। यहीं सिंधुक्षेत्र में कुमार का शव उसे दिया गया, और इसी घटना के कारण उस स्थान का नाम स-दिया (जहाँ शव दिया गया) पड़ा गया। तब से यही नाम प्रचलित है|"[1] या फिर 'मनाली' स्थान विशेष के नाम की व्युत्पत्ति के संबंध में कहते हैं यहां मुनाल नामक पक्षी के पाए जाने के कारण इस स्थान का नाम मनाली पड़ा। साथ वह पक्षी किस जाति की है इसकी भी जानकारी देते हैं।

लेखक स्थान विशेष के इतिहास संबंधी जानकारी ही नहीं देते बल्कि उस पर प्रतिक्रिया भी व्यक्त करता है जो यात्रा संस्मरण का सर्वप्रमुख गुण होता हैं और यह इस यात्रा संस्मरण में भी जगह-जगह वर्णित है। लेखक का बटोही जब एलुरा की गुफा पहुँचता है तो वह वहां के केवल मूर्तिकला, स्थापत्य कला के सौंदर्य का ही वर्णन नहीं करता बल्कि वह वहां इतिहास में भी एक दृष्टि डालता है। वह देखता है यहाँ औरंगजेब की कब्र है। बटोही केवल कब्र को देखकर नहीं रह जाता, बल्कि उसके मन में अनेक सवाल इस कृति के माध्यम से उभरकर सामने आते हैं। वह सोचता है उसने अपने मरण स्थल के लिए यहीं स्थल क्यों चुना। उसने भी अपने पूर्वजों की तरह कश्मीर को क्यों नहीं चुना। क्यों वह स्वयं को मानव से सर्वोपरि समझता था। वह सोचता है – "आस्था तुम में भी थी -धर्मात्मा तुम भी थे - शारीरिक परिश्रम से अपना

[1] वही, पृ. 10

भरण करने की साधना भी तुम ने की थी। पर क्या तुम नहीं जानते थे कि साधना का एक अहंकार भी होता है जो साधक को ले डूबता है क्योंकि जहाँ अहंकार का विसर्जन नहीं है और वहाँ विनय नहीं हैं। वहाँ साधना कैसे हो सकती है? ईश्वर के आगे झुकने से ही तुम अपने समकक्ष मानव प्राणी से अपने को ऊँचा समझने के अधिकारी बनते थे, जो आध्यात्मिक दर्प है - जो अहंकार का सबसे विधातक रूप है। ईश्वर की क्षुद्रतम रचना के आगे विनयी होना ही ईश्वर के आगे विनयी होना है। और इसी से, तुम्हारे मृत स्वर्ग का स्तंभ रूप इन एलुरा के गुफा-चैत्यों और मंदिरों के निर्माता, नाम विहीन कलाकार अमर हैं, और उनकी छत पर टिके हुए अपने इन मरण-मंडपों में बैठे-बैठे पचित जीर्ण होते हुए तुम एक प्रेत, केवल प्रेत..|"[1] यहाँ लेखक ने ऐतिहासिक प्रसंगों के बीच छिपी मानवीय त्रासदियों की अन्तर्धारा को पहचानने का प्रयत्न किया है।

लेखक केवल इतिहास की ही जानकारी नहीं देते बल्कि स्थान विशेष संबंधित लोक कथाओं, लोकगीतों का भी वर्णन करते हैं। लेखक का यायावर जब चन्द्रभागा नदी के कलनाद को सुनता है, तो उसे हीर और रांझा, सोहनी और महीवाल की प्रेम कथा याद आती है। क्योंकि इसी नदी के किनारे इनका प्यार उपजा, पनपा, फूला और दुर्देव के विवर में झर गया। वे लोकगीत के माध्यम से कहते हैं –

"पार झानवीं मझोवाले दा डेरा

सानूँ वी लैं चल पार घड़्या

देखन नूँ दौ नैन तरसदे,

[1] वही, पृ. 111

मेल मेरा दिलदार घड़्या!“16

अथवा

सोहनी जड़े नूँ आखदी

अज्ज मैं नू पार लंघा, धड्या!

कच्ची मेरी मिट्टी कच्चा मेरा नाम

कच्चयाँ दे हुँदे आखिर कच्चे अंजाम

कच्चयाँ ते रखिए ना उम्मैद पार दी!

पक्का तैनूँ देख के मैं पाया हत्थ वे

अद्ध विच-धारयाँ गया खुर वे

शकल वेखा दे अज्ज महीवाल दी|

इस प्रकार लेखक ने प्रचलित लोकगीत के माध्यम से हीर-रांझा, सोनी महीवाल की प्रेम कथा का वर्णन किया है। साथ ही प्रचलित मिथकों का भी वर्णन करते हैं, चाहे वह स्थान विशेष से संबंधित हो, किसी रीति व परंपरा से भी या किसी स्थान विशेष के नाम की व्युत्पत्ति से संबंधित। उदाहरणस्वरूप सदिया राज्य या कूचबिहार राज्य के नाम के व्युत्पत्ति संबंधित मिथक व इतिहास का वर्णन लेखक यात्रा के दौरान करते चलते हैं।

सांस्कृतिक दृष्टि से इनकी यह कृति बेजोड़ हैं। लेखक केवल सांस्कृतिक पहलुओं को उद्धृत ही नहीं करते बल्कि उन्हें समझने की भी भरसक कोशिश करते रहे। भारतीय संस्कृति के मूल प्रवाह को समझने के लिए भारतीय आख्यानों तीर्थों, मिथकों, प्रतीकों और वाचिक परंपराओं से परिचित होना आवश्यक है। इसके लिए

उन्होंने स्थान विशेष संबंधी लोक संस्कृति ग्रंथावली, धार्मिक ग्रंथों का गहन अध्ययन किया। जो इस यात्रा संस्मरण में उदधृत सांस्कृतिक, परिवेश व परंपरा से भलि-भाँति दृष्टिगोचर हो जाता है। उनका मानना भी है कि जो यात्रा साहित्य सांस्कृतिक दृष्टि के विकास में योगदान दे वही सही मायने में यात्रा साहित्य है। उनके शब्दों में "भ्रमण या देशाटन केवल दृश्य-परिवर्तन या मनोरंजन न होकर सांस्कृतिक दृष्टि के विकास में भी योगदान दे, यहीं उसकी वास्तविक सफलता है|"[1] भारतीय संस्कृति के आधार-विषयक मूलाधारों के अधिकांश स्त्रोतों का हमारे मिथकीय ग्रंथ रामायण और महाभारत आदि में उपलब्ध होने के कारण सांस्कृतिक अवदानों में मिथक की विशेष महत्ता सिद्ध होती है। शायद यही कारण रहा है अज्ञेय किसी स्थान-विशेष संस्कृति, आचार-विचार, रहन-सहन के पीछे क्या पौराणिक कथा प्रचलित रही उसका भी विश्लेषण करते हैं। उदाहरणस्वरूप-कुंड में प्रत्येक वर्ष सक्रांति के समय लाखों की संख्या में लोग के नहाने की जो रीति है, उसके पीछे जो पौराणिक कथा प्रचलित है उसे व्याख्यायित करते हुए कहते हैं - परशुराम ने अपने पिता के आज्ञा से मातृ वध किया था। उसके पश्चात् उसे खूब ग्लानि हुई, बहुत तपस्या के बाद भी उनके मन से ग्लानि भाव जा न सका। फिर एक दिन भगवान ने उसे दर्शन देकर उसे उस कुंड में स्नान करने की आज्ञा दी। तब वह उस पाप की बोझ से मुक्त हुआ और यही प्रथा आज तक चली आ रही है। लेखक इस प्रथा का पालन न कर व्यंग्य करते हैं क्योंकि लेखक को ऐसी रीति व परंपरा कतई स्वीकार्य नहीं है जो रूढ़ियों व अंधविश्वास पर आधारित है। लेखक कहते हैं "और सभ्य मुमुक्षुओं के पाप का बोझा इस प्रतीक के द्वारा ढ़ोने का अधिकार सदा से असभ्य उपत्यकावासी मिश्मियों का रहा है। विकसित नागरिक सभ्यता के पापों का बोझ अविकसित वन्य जातियों द्वारा ढोया जाता है।

[1] वही, पृ. सं. पाँचवें संस्करण की भूमिका

इसका यह रीति स्वयं कितना अर्थपूर्ण प्रतीक है, इसकी ओर कदाचित दोनों ही पक्षों का ध्यान कभी नहीं जाता होगा|"[1]

अज्ञेय जहाँ भी गए वहाँ की संस्कृति को सिर्फ देखा समझा ही नहीं बल्कि उसे जिया भी। अज्ञेय जब पेशावर जाते हैं वहाँ के रहन-सहन, रीति-रिवाज, खान-पान वहाँ के पारंपरिक वस्त्रों को धारण करते हैं "रविवार को यायावर ने मुफ्ती पहनी। सिर पर अब्दुल करीम से माँगी हुई अस्त्रखानी टोपी लगायी। एन्तोन पर तो बंधन था ही नहीं। दोनों खोजते हुए नूर मुहम्मद के यहाँ पहुँचे। भोज में भुना हुआ माँस, खमीरी मीठी रोटी जिस में भीतर किशमिश और उपर खसखस यथेष्ठ था, और गहरी चाय मिली|"[2] इस संदर्भ में कमलेश्वर ने अपने एक निबंध 'अज्ञेय: आधुनिक अजंता' में कहते हैं – "जिस सांस्कृतिक विरासत को हम नजरअंदाज करते रहे, अज्ञेय जी निरन्तर उसे माँजते, धोते और संवारते रहे....उसमें कुछ जोड़ते रहे -उनके रहते हम निश्चित थे कि वह बौद्धिक धरोहर निरापद रूप से सुरक्षित है जो मूलतः प्राच्यः और निरंतन है। उनके जाने से हमारे प्राच्य सौंदर्य, शब्दों, विम्बों, रंगों, परिकल्पनाओं और साहित्यिक सरोकारों की सृष्टि का संसार अपनी गरिमा की गुरुता में कहीं कुछ भारहीन हो गया है ...क्योंकि उस सृष्टि का प्रहरी, प्रेरक और पोषक नहीं रहा है|"[3]

अज्ञेय ने मिली-जुली संस्कृतियों का बड़ा ही सुन्दर और बेजोड़ वर्णन किया। भारतीय सांस्कृतिक गुरुता की आधारभिति 'वसुधैव कुटुम्बकम' का विराट आदर्श है। विश्व शक्ति की दुहाई के पीछे यत्नपूर्वक फैलायी जा रही शास्त्र स्पर्धा और सीमा संबंधी द्वंद्व के वर्तमान परिवेश में भी अज्ञेय की दृष्टि में तूरख़म मर्यादा पर्वत "वह

---

[1] वही, पृ. 7-8

[2] वही, पृ. 38

[3] मणिका मोहिनी (सं.), *अज्ञेय: एक मूल्यांकन*, वैचारिकी संकलन, नई दिल्ली, 1992, पृ. 65

मर्यादा जो और ... सोचते हुए उसके भीतर युगों के संस्कार शताब्दियों की सांस्कृतिक परंपराओं के तार, धीरे स्वरित हो उठे, भारत का भारत्व, उसका प्राणतत्त्व बोलने लगा। भारत, नीचे क्षितिज स्पर्शी असीम सागर के वेष्टित और ऊपर नभ चुंबी हिमालय के अंचल से छादित, जिस की अपनी सीमाएँ छूती हैं, एक खड़ी परा सीमा को और एक पड़ी परा सीमा को; जो भारत होकर आलोक के खोज में लवलीन रहा है और जिसने कहीं से भी आती हुई प्रज्ञा किरणों को स्वीकार किया है और अपने विमल मानस में धारण करके और चमका दिया है, जिसने अनेकता में एकता पायी है क्योंकि वह अपनी एकता में अनेकों को अपना सका है, सह सका है- प्रिय: पियायर्हसि देव सोढुम|"[1]

यहाँ लेखक ने अनेकता में एकता, अतिथि देवो भवः जो हमारी देश की संस्कृति रही है, उसका वर्णन करते हुए कहते हैं भारत ने हमेशा से सभी जाति, सभी संस्कृति का स्वागत किया। अपने अन्दर समाहित किया है। उसे अपने आलोक से आलोकित किया। उसका निरादर नहीं किया। शायद यहीं कारण रहा है कि ब्रिटिश व अंग्रेज यहाँ आ कर बस गए।

समग्रतः यह यात्रा संस्मरण में सांस्कृतिक इतिहास की धड़कन के साथ भारतीय जीवन लय को बहुत भीतर की विविधता में एकता की खोज लेखक ने पूरे मनोयोग से की है। लेखक की दृष्टि में भारत की संस्कृति – "भारत की संस्कृति एक जड़ धातु पिंड नहीं है, फिर चाहे वह धातु स्वर्ण ही क्यों न हो, वह निधि है जिसकी मंजूषाओं में नाना रत्नों संग्रहीत हुए हैं और होते रहेंगे; वह एक परंपरा है जिसमें

[1] अज्ञेय, अरे यायावर रहेगा याद ?, नेशनल पेपरबैक्स, 2009, पृ. 44

मानव का ज्ञानालोकित उद्योग कड़ी-कड़ी उद्योग जोड़ता रहा है, और जिसका सजीव प्रसार काल के विस्तार को कौली भर के भेंटने की स्पर्धा करता है|"[1]

उनकी सांस्कृतिक दृष्टि के संबंध में सुमन राजे का कहना है – "सभ्यता और संस्कृति की खोज और उसकी निरन्तर पहचान अज्ञेय की प्रमुख चिन्ता थी। साहित्य उनकी सम्पूर्णता की खोज का सशक्त माध्यम था|"[2] लेखक की सांस्कृतिक दृष्टि इतनी विकसित व मंजी हुई है कि वे पुरातत्त्व को भी सांस्कृतिक विकास का एक रूप मानते हैं। वे उसे ऐतिहासिक दृष्टि से देखते ही हैं साथ ही सांस्कृतिक भी। उनका मानना है प्राचीन खण्डहर, अवशेष, भगनावशेष "समष्टि के अनुभव पर आधारित जीवन की उन्नतर परिपाटियों के आविष्कार के - कृति स्तंभ है|"[3] साथ ही इन पुरातत्त्वों के पीछे क्या-क्या मिथक प्रचलित है उसका भी विवरण लेखक करते चलते हैं। लेखक केवल प्राचीन खण्डहरों, वहाँ के स्थापत्य, मूर्तिकला के सौन्दर्य आदि का वर्णन करके ही संतुष्ट नहीं होते हैं वह इनके प्रायः लुप्त होते जा रहे समस्या पर भी हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं। वे कहते है – "जंगम कला वस्तु वहाँ अब लगभग नहीं है, जो रही वह या तो पेशावर के संग्राहलय में गयी या पारखियों के निजी संग्रहों में; बहुत-सी व्यापारियों या निरे चोरो के पास भी गयी और जब तब किसी रूप में प्रकट हो जाती है। तख़्त वहाई में जो कुछ है - या कि अन्य वैसे स्थानों में - वह सब खंड-खंड, प्रायः मूर्तियों के सिर नहीं है और अगर कटे हुए सिर हैं तो उनके भी चेहरे मिटा दिए गए हैं|"[4]

लेखक अन्य यात्रा साहित्यकारों की तरह इन पुरातत्त्वों का इतिवृत्त वर्णन नहीं करते हैं वह उनके सौन्दर्य का बड़ा ही सूक्ष्म वर्णन करते हैं "मूर्ति शिल्प में शिल्पी

---

[1] वही पृ. 65

[2] वही, पृ. 44

[3] वही, पृ. 27

[4] वही, पृ. 34

केवल मूर्ति के अवयवों को देखता, यह भी ध्यान रखता है कि मूर्ति पर पड़ने वाला प्रकाश किस अंग को प्रकाशित करेगा, किसे छाया से धुंधला कर देगा; मूर्ति रचना में पत्थर के साथ-साथ आलोक छाया का यह उपयोग मूर्तिकला का अंग हो|"[1] यहाँ यायावर का यायावरी दृष्टि नहीं शिल्पकार की दृष्टि प्रदर्शित होता है। लेखक के हृदय में उन कलाकारों के प्रति भी उतनी ही श्रद्धा है जितनी कि इन स्थापत्य कलाओं के प्रति। "...एक से एक सुंदर असंख्य अलंकृतियों के बीच से भी पुराने कलाकारों की श्रद्धा -विनत साधना कहती है, यह नहीं, इस से जो सूचित होता है, वह - हम नहीं हम में जो प्राण फूंकता है, वह!"[2]

अज्ञेय धार्मिक स्थानों का भी प्रस्तुत कृति में वर्णन करते हैं, पर एक श्रद्धालु की दृष्टि से नहीं एक यायावर की दृष्टि से। उन्होंने मंदिर-मस्जिदों आदि के वस्तुकला, मूर्तिकला का ही मुख्य रूप से वर्णन किया है। धार्मिक परंपराए, रीति-रिवाज ही प्रमुख रूप से वर्णित है। वो परंपरा व रीति-रिवाज पर बल देते हैं न कि उसके पीछे प्रचलित रूढ़ियों व अंधविश्वासों पर, वे अपने आपको परंपरा के आगे जोड़ते हुए चलते है| धार्मिक स्थानों का भ्रमण करना सिर्फ भारतीय संस्कृति की प्रति उनके गहरे लगाव को प्रदर्शित करता है और उनका मानना है इसी के माध्यम से हम अपने संस्कृति की जान पहचान सकते हैं। "..भारतीय जन-मानस की सही और अधिक गहरी पहचान शिव-पार्वती के पुराण मिथक के सहारे होती रहती है। शिव-शक्ति के मिथक के क्षेत्र का कोई भी नया उन्मेष भारत की अधिक गहरी पहचान कराता है, भारत के मानस की कोई नयी झांकी शिव-शक्ति के मिथक की रहस्य सत्ता का नया आभास दे जाती है....|"[3]

---

[1] वही, पृ. 108

[2] वही, पृ. 108

[3] वही, पृ. 137

अज्ञेय ने अपने व्यक्तित्व के अनुसार समय पर भारतीय दर्शन के दृष्टिकोण को अपनी रचनाओं में प्रतिफलित किया है। प्रकृति के माध्यम से परम तत्त्व का दर्शन करते हैं। इस प्रकार प्रकृति, विश्वात्मा के दर्शन का माध्यम बन जाती है। लेखक के शब्दों में – "हरी-भरी पहाड़ी सर्वत्र मिल सकती है, किंतु वह सर्वदा आगे रहती है; और मानव पंचीभूत हो कर ही उसे आत्मसात करता है, उसका सुर पृथ्वी के सुर में लीन होता हुआ कहता है कि मैं ही वह हरी पहाड़ी हूँ, मैं हूँ कर्म और कर्ता, बीज और कृषक, मैं वह पुनीत धूल जो ईश्वर है|"[1]

वहीं दूसरी तरफ भारतीय हिंदू दर्शन के संबंध में कहते हैं – "हिंदू मंदिर कभी भी खुले परिपार्श्व में नहीं रखे जाते और कदाचित जनसंकुल में से ही अंतरिक्ष की ओर उठी हुई मानव को श्रद्धापूर्ण जिज्ञासा को मूर्त करना ही हिंदू भास्कर्य कला का परंपरानुगत आदर्श रहा है। जीवात्मा की परमात्मा में लीन हो जाने की उत्कंठा ही मुमुक्षा है, मंदिर और देवालय उसके मूर्त प्रतीक हैं और उनकी प्रतीकमयता तब तक पूरी कैसे हो सकती है। वह गुफाओं से घिरा है जो उसी पत्थर से कोर कर निकाली गयी है जिससे कि कैलास, और उतनी ही ऊँची है;...."[2]

अज्ञेय की दार्शनिकता किसी दर्शनशास्त्री की जीवात्म व्याख्या नहीं है किन्तु भारतीय जीवन के साथ मूलबद्ध दार्शनिकता ही उनकी इस कृति में झलकती है। जिस प्रकार भारत का साधारण मनुष्य वेदान्त संबंधी सामान्य सिद्धांतों से परिचित होता है, उसी प्रकार अज्ञेय भी उक्त दृष्टिकोण को पूर्णतया अपनाए हुए हैं। यह दार्शनिकता उनकी सामयिक मानसिक स्थिति की अभिव्यक्त करने में पूर्णतया सहायक होती है।

इस प्रकार यह यात्रा संस्मरण कई धरातलों को एक साथ स्पर्श करता है। उसमें पुरातत्त्व भी है, प्राचीन ग्रंथों का अध्ययन भी, धर्म और दर्शन भी है और लोक भाषा,

---

[1] वही, पृ. 46

[2] वही, पृ. 108

लोक जीवन और लोक संस्कृति का संस्पर्श भी है। वे जिस स्थान की यात्रा का वर्णन प्रस्तुत करते हैं वहाँ के निवासियों के जीवन और उनकी समस्याओं को देखते भी हैं और उस पर अपनी प्रतिक्रिया भी व्यक्त करते हैं। पर कहीं-कहीं मानवतावादी प्रसंगों में विलम्ब कर चलने वाला लेखक मानवीय औदात्य को स्खलित करने वाले बिंदुओं पर क्षुब्ध भी है।

'मौत की घाटी' वृत्त में एक पहाड़ी द्वारा यायावर की 'कोई वैसी वासना' की पूर्ति हेतु पूछने पर 'तीव्र ग्लानि के झोंके से स्तब्ध' से 'यायावर को स्मरण है कि लारेंस ने ठीक ही लिखा है कि 'मानव की बू मानव को असहाय हो गयी है ... इस कथन की सच्चाई का अनुभव वहाँ हर समय होता रहा था|"[1] पहाड़ियों की आरोपित नीति भ्रष्ट संहिता के विश्लेषण के माध्यम से लेखक ने तथाकथित सभ्य मैदानी लोगों को पर्वतीय अधःपतन का मूल माना है। यायावर के मानवतावादी व्यापकत्व में क्रांतिकारिता, विनोदप्रियता, विद्वता, हंसोड़पन, फक्कड़पन आदि भावों का विरल अस्वाद उपलब्ध हैं, लेखक जहाँ भी जाते हैं वहाँ उन्हें जो भी चरित्र प्रभावित करता उसका वर्णन करते चलते। इनके बहुरंगी चरित्रांकन में एक मस्त और फक्कड़ चरित्र जैसे मनदोज, जोशी, कुन्दन सिंह है तो दूसरी ओर राष्ट्रवादी, दार्शनिक और साहित्यकार जैसे चरित्रों की भी कमी नहीं है।

यह एक मनुष्य की अन्तर्यात्रा भी रही है। रचना में लेखक आत्यंतिक रूप से उपस्थित होकर अदृश्य भाव से वर्तमान रहता है। संवेदनशील होकर भी रचना में निरपेक्षता की स्थिति बरकरार रहती है।

भाषा की दृष्टि से विचार करें तो 'अरे यायावर रहेगा याद' यात्रा संस्मरण की भाषा शैली विषय के अनुकूल है। जैसे-जैसे विषय में परिवर्तन होता गया वैसे-वैसे शिल्प में भी परिवर्तन होता गया है। सामान्य घटनाओं के वर्णनों में बोलचाल की

[1] वही, पृ. 99

भाषा की सहजता, प्रकृति या भावात्मक क्षणों के वर्णन में कलात्मकता दिखाई पड़ती है। दृश्यों के मूर्तिकरण में चित्रात्मकता और विम्बधर्मिता, विचारों की अभिव्यक्ति में गांभीर्य तथा स्थितियों के विश्लेषण में भाषा का प्रौढ़ व प्रांजल रूप दिखाई पड़ता है। उदाहरण के रूप में- "जंगल में बीच-बीच में खुला घास-भरा प्रदेश आ जाता, जिसमें महाकाय सेमल के ध्वल-गात पेड़ भानों आगमिष्यत रक्त प्रसूनों की सुगलती हुई पूर्वानुभूति से कंटकित हो रहे थे; और कहीं-कहीं किंशुको के झरुमुट|"[1]

हिंदी की प्रयोगशील काव्यधारा के प्रवर्तक और सर्वाधिक शक्तिशाली प्रतिनिधि कवि अज्ञेय के क्रमशः दोनों यात्रावृतों के शीर्षक उनकी काव्यजगत की पंक्तियाँ ही है। उत्तरकालीन अज्ञेय के काव्य में पूर्वाद्ध के कवि अज्ञेय के अपेक्षा घनीभूत रचनात्मक ऊर्जा उनकी विकासशील काव्य यात्रा का ही परिणाम है। इस कृति में काव्य की वाचिक परम्परा के प्रति लेखक का मोह भी दिखायी देता है।

अज्ञेय का गद्य भी अनुभूतियों और संवेदनाओं की घनीभूत अभिव्यक्ति से काव्यात्मक बन पड़ा है। रूढ़ियों से मुक्त इनकी भाषा सर्वत्र नवीन भाव बोध से परिष्कृत है। भाषा के आर्ष प्रयोग के कायल अज्ञेय के यहाँ प्रयोगशील भावबोध के अनुकूल ही शाब्दिक मितव्ययिता और उसकी समृद्ध अर्थ छवि का सामंजस्य उपलब्ध है। भाषिक सचेष्टता अज्ञेय साहित्य की मूलाधार है और यही कारण है कि अज्ञेय ने "मानवीय सर्जनात्मक के साथ भाषा को अनिवार्य रूप से जुड़ा हुआ माना और समझा है|"[2]

अज्ञेय ने अपने यात्रा साहित्य में गद्य पद्ययुक्त शैली का प्रयोग किया। वे ऐसे लेखक हैं जो कवि के साथ-साथ घुमक्कड़ भी थे। कवि होने के कारण उनके यात्रा साहित्य में काव्य के गुण आ गए हैं। गद्य पद्यात्मक शैली के प्रयोग के कारण कृति मनोरम बन पड़ी है। कविता के उद्धरणों ने कृति को विशेष रोचक बना दिया है।

---

[1] वही, पृ. 06

[2] रामस्वरूप चतुर्वेदी, *अज्ञेय और आधुनिक रचना की समस्या,* भरतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, छठा संस्करण, 2011 पृ.108

उदाहरणस्वरूप 'माझुली' नामक वृत में लेखक ने माझुली के जीवन चित्र को शब्दों के सूत्र में गुंथते हुए बड़ा ही मनोरम व भावपूर्ण अंकन किया है -

"आज मेमने आ कर मेरी पुस्तकों को उलटा जायेंगे,

और नीलकंठ किंशुक के ठूँठ पर ऊँघेगा

और सेमल की बुढ़िए हवा पर तैरती चली जायेंगी।

आज भी धुँधला आर्द्र प्रकाश बिछल जाएगा नील स्फटिक खंडों पर

चिकनी लचकीली ग्रीवाओं और तरंगायित नितंब-लहिरयों के,

ओज भी वस्त्र-खंडों में से कुच-मुकुलों का निव्याज सौंदर्य झांक जाएगा

निरायास स्वच्छंदता की ही ओट ले लेकर !"[1]

अज्ञेय के इस यात्रा साहित्य में अज्ञेय का व्यक्तित्व भी उभरकर सामने आता है क्योंकि यह रचना किसी शास्त्रीय पद्धति पर प्रस्तुत नहीं की गई है इनका उद्देश्य तो सीधे-सादे मनोभावों, उद्गारों को अभिव्यंजित करना है। इतिवृतात्मक वर्णन इस यात्रा-संस्मरण में यथेष्ट मिलते हैं। निराडम्बर शैली में विभिन्न दृश्यों का सामान्य वर्णन इस कृति की विशेषता हैं, जिसके माध्यम से लेखक ने अपने अनुभवों को सरल, स्पष्ट भाषा शैली में पाठकों के हृदय तक पहुँचाने का प्रयास किया है। उनके कथन चित्रण सीधे हृदय पर प्रभाव डालते हैं। साथ ही भाव प्रधान तथा आलंकारिक शैली का भी प्रयोग किया है, जो अत्यन्त ही हृदयस्पर्शी तथा मनोरम है। अलंकारपूर्ण शैली से यद्यपि कहीं-कहीं थोड़ी-बहुत कृत्रिमता भी है, तथापि भावोल्लास को व्यक्त करने के लिए अलंकारिता, कवित्वमयता में सहायक होती है। अज्ञेय भावुकता के कारण अपने वर्णनों के बीच-बीच में अनुभूति से विभोर होकर अनेक प्रकार के प्रभावशाली

[1] अज्ञेय, *अरे यायावर रहेगा याद ?,* नेशनल पेपरबैक्स, नई दिल्ली, 2009, पृ. 119

दृश्यों की तन्मयता का पूर्ण अंकन करने लगते हैं। ऋतु वर्णन, पृष्ठ भूमि निर्माण, प्रातः सायं, गोधुलि रात्रि आदि दृश्यों के मार्मिक, करुण, कोमल, श्रृंगारयुक्त, भयंकर, आंतकपूर्ण चित्रण किए गए हैं।

अज्ञेय ने इस यात्रा साहित्य को तथ्यात्मकता से उबारा। इसमें कहानी की तीव्रता भी है और नाटकीयता अर्थात संवादात्मकता का समावेश भी है। पौराणिक संदर्भों को लेखक ने कथा के माध्यम से उभारा है। जैसे 'परशुराम कुंड' की कथा हो या 'सदिया प्रदेश' की कथा। संवाद शैली का भी मिश्रण पर्याप्त है- उदाहरणार्थ

"मैंने फूल शुभ्रा को दे दिए|" कहा, "शुभ्रा, मैं विदा माँगने आया हूँ|"

शुभ्रा फूल अपने जुड़े में खोंसते हुए मेरी ओर देख कर हंस दी। एक खुली

सफेद बादल सी हंसी।

मैंने फिर कहा, "भोर होते ही मैं यहाँ से चला जाऊँगा|"

उसने पूछा, "फिर कहाँ देखना होगा ?"

अब की बार मैंने हंसना आवश्यक पाया - वैसी ही खुली हंसी, क्योंकि

खुलापन ही एक अभेद्य आड़ है|

फिर मैंने कहा, "फिर कभी होगा तो, शायद। कल का क्या पता ? पर अशोक तो हर साल फूलेगा, कोई ला दिया करेगा। काले के साथ दीप्त रंग सजता है?"[1]

कुल मिलाकर अनगढ़पन और असंयम आदि से परे अज्ञेय का यात्रा साहित्य संस्कृतनिष्ठता, काव्यात्मकता आदि गुणों से समर्पित भाषिक गाँभीर्य से ओत-प्रोत हैं,

[1] वही, पृ. 112

जिसमें बोझिल पंड़िताऊपन से मुक्ति और प्रांजल भाषिक गाँभीर्य दार्शनिक गूढ़ता के अनुकूल ही है। पर उनके यात्रा वृत्तों की संघटना में रेखांकित होने वाली धारावाहिक रोचकता के मूल में भाषिक गाँभीर्य के साथ ही प्रसंगानुकूल संयोजित व्यंग्यों, विडम्बनाओं और लोकोक्तियों आदि की भी महत्त्व है। अतः लेखक ने यहाँ गंभीरता के साथ यथेष्ट रोचकता भी है। व्यंग्यात्मक, चपलता और व्यंग्य तथा विडम्बनाओं के परस्पर तनाव आदि से अज्ञेय की भाषिक बुनावट प्रीतिकर बन पड़ा है।

इन सब गुणों के अतिरिक्त इस यात्रा साहित्य के एक वृत्त 'बहता पानी निर्मला' में यात्रा करने के तरीकों पर विचार किया गया है। किस प्रकार यात्रा की जाए, किस प्रकार नहीं, कौन-कौन सी बातों का ध्यान रखना है, स्वयं लेखक को किस प्रकार का यात्रा पसंद है इस तरह कि अनेकानेक बातों का उल्लेख किया है।

इस प्रकार के यात्रा से लेखक को काफी जोख़िम उठाने पड़े। तम्बू में जन्मे अज्ञेय बचपन से ही यायावार प्रवृत्ति के थे। यायावर प्रवृति केवल उनके यात्रा संस्मरणों निबंधों में ही नहीं कविताओं में विद्यमान है। कविताओं में 'दूर्वाचल', 'हवाई यात्रा: ऊँची उड़ान', 'पहाड़ी यात्रा', 'विदा के चैराहे पर: अनुचिन्तन', 'नन्दा देवी', 'नन्दा देवी-8', 'नन्दा देवी' 14, आदि अनेक ऐसे कविताएँ है जिनमें कवि ने अपने यात्रा को शब्दबद्ध किया है। उदाहरण स्वरूप 'नन्दा देवी-6, नामक कविता को देखा जा सकता है।

"पुआल के घेरदार घाघरे

झूल गए पेड़ों पर

घास के गट्ठे लादे आती हैं

वन-कन्याएँ

पैर साधे मेड़ो पर

चल चल डगर पर

नन्दा को निहारते

तुड़ चुके सेव, धान

गया खलिहानों में,

सुन पड़ती है

आस की गमक एक

गड़रिए की तानों में।

चल चल डगर पर

नन्दा को निहारते।

लौटती हुई बकरियाँ

मढ़ जाती हैं

कतनी धूप के ढलते सोने में

एक सुख है सब बाँटने में

एक सुख है सब जुगोने में

जहाँ दोनों एक हो जायें

एक सुख है वहाँ होने में

चल चल डगर पर

नन्दा को निराहते|"[1]

प्रस्तुत कविता में लेखक नन्दा देवी की यात्रा करते हैं जिसमें उन्होंने वहाँ के सामाजिक जीवन, प्राकृतिक दृश्य का वर्णन किया है। जो उनके इन यात्रा संस्मरण में भी पर्याप्त रूप से वर्णित है।

कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि अज्ञेय के 'अरे यायावर रहेगा याद?' यात्रा संस्मरण में यात्रा साहित्य के सारे गुण समाहित है। लेखक जितना वर्तमान परिस्थिति के प्रति सजग है उतना ही अतीत के प्रति भी। इस रचना का प्रमुख उपजीव्य प्रकृति ही है। पर लेखक ने प्रकृति के माध्यम से मानव मन की सूक्ष्म संदेवनाओं को भी अभिव्यक्त किया है। जो इस कृति की मुख्य विशेषता रही है। राजनीतिक, सामाजिक, ऐतिहासिक, भौगोलिक सांस्कृतिक दार्शनिक आदि सारी दृष्टियों से यह कृति अद्वितीय है। कृष्णदत पालीवाल के शब्दों में "इन यात्रा संस्मरणों में अज्ञेय की भारतीयता का अर्थ पाया जा सकता है। यह भारतीयता भीतर तक धंसी संस्कृति-परंपरा का पावन बोध है। अपने देश को अथाह प्रेम करनेवाले अज्ञेय का मानस बिम्ब आज हमारी प्रेरणा बनने की शक्ति रखता है। यहाँ देश प्रेम का गहरा अर्थ-संदर्भ संस्कृति और परंपरा को स्मृति से जुड़ा है। देश-प्रेम, देश-भक्ति रस से परिपूर्ण "अरे यायावर रहेगा याद?' के यात्रा संस्मरण आधुनिक भारतीयता सेकुलर बुद्धिजीवियों के लिए चुनौती है जो 'ग्लोबल कलचर' के चक्कर में चक्रधिन्नी बन रहे हैं|"[2] इस कृति में एक ऐसे अज्ञेय व ऐसे यायावर से साक्षात्कार होता है जो अपने देश की आत्मा का साक्षात्कार करते हैं, देश में बिखरे हुए इतिहास, संस्कृति समाज को अपनी अनुभूति का अंग बनाकर अभिव्यक्त करते हैं। उनके यात्रा साहित्य

---

[1] नंदकिशोर आचार्या (संपा.) *अज्ञेय संचयिता*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2001, पृ. 162-163

[2] कृष्णदत्त पालीवाल, *आलोचक अज्ञेय की उपस्थिति*, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2011, पृ. 160

में कहानी का आकर्षण, गीतिकाव्य की मोहक भावशीलता, संस्मरणों की आत्मीयता, निबंधों की मुक्ति सब एक साथ मिल जाते हैं|

3.3.2 'एक बूँद सहसा उछली'

'एक बूँद सहसा उछली' सन् 1960 में प्रकाशित, पूर्वी और पाश्चात्य सांस्कृतिक जीवन प्रणाली की तुलनात्मक मीमांसा में दीप्त, अज्ञेय की बाह्य और आंतरिक चिंतन और प्रतिक्रिया को समेटने वाली दूसरी विचारोत्तेजक, संघटित और संश्लिष्ट यात्रावृतात्मक कृति है। प्रस्तुत पुस्तक का शीर्षक भी अज्ञेय ने अपनी एक एक कविता के पंक्ति को बनाया है-

मैंने देखा

एक बूँद सहसा

उछली सागर के झाग से

रंगी गई क्षण पर

ढलते सूरज की आग से|

मुझको दीख गया:

हर आलोक छुआ अपनापन

है उन्मोचन

नश्वरता के दाग से|

'अरे यायावर, रहेगा याद!' की भाँति इसमें कतिपय यात्रानुभवों की वर्षों तक थिर्राइ हुई स्मृतियों की कथावृति नहीं, बल्कि एक सतत यात्रा निष्पत्ति से संबंधित आख्यानों

की तत्कालिकता, यात्रावृत निर्मित की सोद्देश्यता को रेखांकित करती है। उदाहरणतः यास्पर्स जब अज्ञेय से पूछते हैं – "आप यूरोप क्यों आए? यूरोप में आपको क्यों और क्या दिलचस्पी है ?"[1]

इसका उत्तर देते हुए अज्ञेय कहते हैं – "मेरी दिलचस्पी दोहरी है। एक तो मैं समानताएँ पहचानने आया हूँ| यूरोप के और हमारे सांस्कृतिक दाय में बहुत-सी चीजों का साझा है; इतिहास कहीं इस साझेदारी के भाव की पुष्ट करता आया है तो कहीं ऐसा खिंचाव भी उत्पन्न करता रहा है कि हम उस संबंध को भूल जावें या उच्छिन्न कर देना चाहें। मेरी समझ में अपने दाय से निरन्तर नया संबंध जोड़ते रहना दोनों के हित में है; और उस परिस्थिति में और भी अधिक, जिसमें व्यापक यंत्रीकरण दोनों के बाहरी जीवन को अधिक एकरूप बनाता जा रहा है और उसको उसके आभ्यन्तर आधारों से अलग करता जा रहा है। दूसरी ओर मेरी उतनी ही दिलचस्पी यूरोप की और हमारी असमानता में भी है|"[2] इससे यह स्पष्ट है कि प्रस्तुत पुस्तक में भारत तथा यूरोप, पूर्व तथा पश्चिम के संदर्भ में लेखक का तुलनात्मक दृष्टिकोण उभरकर सामने आया है|

प्रस्तुत यात्रा-संस्मरण में कुल 22 अध्याय हैं- 1. यूरोप की अमरावती: रोमा, 2.विद्रोह की परंपरा में, 3.यूरोप की पुष्पावती:फिरेंजे, 4. खुद के मसखरे के घर: असीसी, 5.यूरोप की छत पर:स्विट्ज़रलैंड, 6.एक यूरोपीय चिन्तक से भेंट, 7.तो यह पैरिस है!, 8. एक दूसरा फ्रांस, 9. बालू की भीत पर, 10. संयुक्त राज्य: दो राजधानियां, 11.ताल तलहटी, स्रोत और स्रष्टा, 12.बीस हजार राष्ट्रकवि, 13.नीलम का सागर, 14.पन्ने की द्वीप, 15. धर्म-विश्वासों की गोधुली, 16.बीसवीं शती का गोलोक, 17.एक अनमना कवि, 18.लोकोत्तर, 19.सागर-कन्या और खग-

[1] अज्ञेय, *एक बूँद सहसा उछली,* भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, छठा संस्करण, 2008 , पृ.53

[2] वही, पृ.53

शावक, 20.राइन के साथ-साथ, 21.पतझर का एक पात, 22.यूरोप का स्नायु-केंद्र: बर्लिन, 23.प्राची-प्रतीची|

अज्ञेय की यह यात्रा यूरोप के विभिन्न स्थानों यथा रोम, इटली,स्विटजरलैंड, फ़्रांस, नीदरलैंड, इंग्लैंड, वेल्श, स्वीडन आदि देशों से सम्बद्ध है| भिन्न-भिन्न देशों में उनके अनुभव भी भिन्न रहे हैं | लेखक ने अपने इन यात्रा संस्मरणों में स्थान-विशेष के प्रकृति सौन्दर्य के साथ-साथ उस स्थान के संस्कृति, रहन-सहन, इतिहास, व्यैक्तिक चरित्र, वहां के जीवन शैली आदि का वर्णन भारत के प्राकृतिक सौन्दर्य, संस्कृति, रहन-सहन, जीवन शैली आदि के बरक्स किया है|

इस पुस्तक की भूमिका में ही लेखक ने घूमने के उद्देश्य के बारे में चर्चा की है। उन्होंने कहा है कि अगर इस पुस्तक को एक विवरणिका की तरह से सोचकर किसी ने पढ़ने के लिए उठाया है तो उसे निराशा ही हाथ लगेगी। लेखक के शब्दों में- "यह पुस्तक मार्गदर्शिका नहीं है| इसके सहारे यूरोप की यात्रा करने वाला यह जान लेना चाहे कि कैसे वह कहाँ से कहाँ जा सकेगा, या कैसे मौसम के लिए कैसे कपड़े उसे ले जाने होंगे, या कि कहाँ कितने में उसका खर्चा चल सकेगा, तो उसे निराशा होगी|"[1] वही दूसरी तरफ वह कहते हैं उनकी यात्रा का उद्देश्य धार्मिक तीर्थयात्रा न होकर मनुष्य के अनुभवों की वृद्धि था, ज्ञान अर्जित करना था। साथ ही पुस्तक की भूमिका में लेखक ने पाठकों से निवेदन किया हैं कि इस पुस्तक को टूरिस्ट गाइड के रूप में नहीं देखा जाए| वह चाहते हैं कि इस पुस्तक को पढने के पूर्व कोई पूर्वाग्रह न बनाया जाए| वे चाहते हैं कि उनका पाठक संवेदशील हो, तभी वो लेखक संवेदनशीलता को ग्रहण कर सकता है| लेखक के शब्दों में - "बिना इसके वह उसे नहीं अपना सकता जो मेरी संवेदना ने ग्रहण किया| जो स्वयं संवेदनशील नहीं है वह यह नहीं पहचानता कि सबकी संवेदन अलग-अलग-अलग होती है-उसके निकट संवेदना का भी एक बना-

[1] वही,पृ. भूमिका

बनाया ढांचा होता है| वह किसी अनुभव को तद्वत् ग्रहण ही नहीं कर सकता, केवल उसके टुकड़े करके अलग-अलग खांचों में रख सकता है|"[1]

लेखक इस यात्रा के दौरान बहुत से कवियों, विचारकों और दार्शनिकों से मिलते हैं और वहाँ पर वे संसार और इस लोक से परे की बातों पर चर्चा करते हैं। मनुष्य के अस्तित्व के बुनियादी सवालों पर चर्चा करते हैं।

लेखक ने यूरोप के दर्शनीय स्थानों की भी यात्रा की। जब मनुष्य उन दो स्थानों का भ्रमण करता है जिनकी समानताओं की पहले चर्चा हो चुकी होती है तो स्वाभाविक है कि लेखक के मन में भी इन तथाकथित समानताओं के बारे में कुछ विचार तो आएँगे ही। स्विट्ज़रलैंड और कश्मीर की तुलना को व्यर्थ बताते हुये अज्ञेय लिखते है कि दोनों ही प्रदेशों का अपना सौंदर्य है और उनको यथा अवस्था में रखते हुये उनका अवलोकन किया जाए, न कि यह सोचते हुए कि यदि अमुक चीज यहाँ होती तो यह भी उस जगह के जैसे लगता।–लेखक के शब्दों में "फिर भी भारत में प्रायः जो तुलना की जाती सुनी थी, उसे जब-जब मन ने दुहराया तब-तब कुछ द्विविधा हुई-यह कहने को मन नहीं हुआ कि स्विट्ज़रलैंड यूरोप का कश्मीर है, या कि कश्मीर भारत का स्विट्ज़रलैंड है| एक बार इतना कहा था कि कश्मीर के कुछ-कुछ प्रदेशों को साबुन से खूब धो लें तो कुछ-कुछ स्विट्ज़रलैंड से लगने लगेंगे| यह बात किसी हद तक ठीक है, पर भी पूरा अभिप्राय उसी की समझ में आ सकता है जिसने दोनों देशों को देखा हो|"[2]

प्रस्तुत पुस्तक के प्रथम आख्यान से ही यायावर के सौन्दर्य बोध की तलस्पर्शी साहित्यिक अभिव्यक्ति मुखर हो उठती है, पर सौन्दर्य का बहुआयामी चित्रण हो या दार्शनिक सांस्कृतिक उपादानों पर गहन चिंतन-विश्लेषण,सर्वत्र लेखक की तुलनात्मक दृष्टि की प्रधानता उजागर होती है। क्योंकि यहाँ विदेशाटन में निकले अज्ञेय की दृष्टि

[1] वही, पृ. भूमिका

[2] वही, पृ. 46

यायावरी दृष्टि नहीं, मूलतः भारतीय साहित्य, संस्कृति और चिंतनधारा की परिपक्व प्रतिनिधि दृष्टि है। यही कारण है कि रोम के सौन्दर्य पर अभिभूत यायावर को नयी दिल्ली का करूण सौन्दर्य याद आता है -

"नयी विस्तृत 'नयी दिल्ली' भी शायद रोम की सात पहाड़ियों के समान सुन्दर हो सकती - यदि हमने सातों पहाड़ियों को खोदकर सपाट न कर दिया होता और यदि स्थापत्य की हमारी अपनी परम्परा होती|"[1]

भ्रमण के दौरान यूरोप के विभिन्न स्थानों के जीवनशैली ने लेखक को गहरे तक प्रभावित किया था। पुस्तक में एक स्थान पर लेखक ने भारतीय, यूरोपीय और चीनी जीवनशैली की तुलना करते हुये उनके दर्शनशास्त्र के मूल में जाने की कोशश करते हैं, लेखक के शब्दों में- " मेरी समझ में में इस समय संसार में तीन सांस्कृतिक प्रणालियाँ जीवित हैं| एक पश्चिम की है जो धर्म विश्वाश प्रधान हैं| (यूरोप की यन्त्र-संस्कृति को छोड़ दीजिए, क्योंकि यंत्र-संस्कृति हर जगह एक है| वास्तव में वह संस्कृति नहीं है|) दूसरे छोर पर चीनी संस्कृति परंपरा है, जिसमें धर्म विश्वास का कोई महत्त्व ही नहीं हैं और चर्या ही मुख्य है| यों भी कह लीजिए पश्चिम की संस्कृति ईश्वरपरक है और चीन की संस्कृति लौकिक| इन दोनों के बीच कहीं हम हैं-भौगोलिक दृष्टि से भी हम बीच में हैं! भारत की ही संस्कृति ऐसी है कि उसे धर्मविश्वासमूलक भी कहा जा सकता है और लौकिक भी| हमारे लिए धर्म-विश्वास रहित संस्कृति रह ही नहीं सकती; किन्तु दूसरी ओर संस्कार की पहचान हम लौकिक आचरण से ही करते हैं| ईसाई के लिए, जैसा कि मुस्लिम के लिए, धर्म-विश्वास की एकता और एकरूपता आवश्यक है; वह प्रमाणित हो जाने पर आचरण की छूट दी जाती है| चीनी परंपरा में आचरण की एकरूपता अपेक्षित है; उससे अलग कोई धर्म विश्वास है ही नहीं| भारतीय परंपरा में आचरण की एकता या एकरूपता अपेक्षित है; उसकी प्रतिष्ठा हो जाने पर धर्म विश्वास में विविधता की छूट है –केवल विविधता की, अनुस्पस्थिति की

[1] वही, पृ.24

नहीं| यूरोपीय कहते हैं, 'तुम अमुक में विश्वास करों, फिर आचरण तुम्हारा चाहे ऐसा हो, चाहे वैसा हो| भारतीय कहते हैं, 'तुम्हारे आचरण का नियम अमुक है, उसके बाद तुम विश्वास इसमें भी कर सकते हो और उसमें भी कर सकते हो, और दोनों में एक साथ भी कर सकते हो|"[1]यहाँ लेखक ने तीनों संस्कृतियों का बड़ा सूक्ष्म वर्णन किया है|

लेखक यूरोप के व्यक्तियों की निजी स्वंत्रता की बात करते हैं परन्तु साथ ही यह भी कहते हैं कि उसका रूप पूरे यूरोप में एक जैसा हो ऐसा नहीं है। फ्रांस में हर एक आदमी किसी दूसरे के जीवन में दखल नहीं देता है, लेखक को इसका कारण एक दूसरे की परवाह न होना लगा। वहीं स्वीडन आदि देशों में निजी स्वतंत्रता दूसरे व्यक्ति की सोच-विचार और कार्यों आदि का सम्मान होना लगा। यूरोप में जीवन की इकाई व्यक्ति होता है, जबकि भारत में यही इकाई समाज होती है, यहां व्यक्ति का समाज से इतर कोई अस्तित्व नहीं है। कई जगह लेखक यूरोपीय जीवनयापन पद्धति से संतुष्ट दिखते हैं, तो कई जगह उसने इनको उनके दुखों का कारण भी बताया है। उदाहरणस्वरूप पैरिस की चर्चा करते समय कहते हैं- ...पैरिस जैसे सौन्दर्य और सौन्दर्य प्रसाधन का केंद्र है, वैसे ही जीवित मन्ष्यों का कबाड़खाना भी है, साहित्य औए कला की नयी सूझ का उत्स है, वैसे ही इनकी विकृतियों का घूरे का भी ढेर है|"[2]

प्रस्तुत यात्रा-संस्मरण केवल यूरोप के प्राकृतिक सौन्दर्य का ही उद्घाटन नहीं करता है बल्कि लेखक के दर्श संबधी मूल मान्यताओं को प्रतिष्ठापित करता है| लेखक दार्शनिक कार्ल यास्पर्स से अपनी मुलाकात का जिक्र करते हैं, जिसमें यास्पर्स पूछ बैठते हैं कि भारतीय दार्शनिकों में अपनी मौलिक विचारधारा का अभाव क्यों है, आदि गंभीर विषयों पर लेखक के राय प्रकट हुए हैं| लेखक कहते हैं यूरोप के कई देशों में घूमने के बाद लगा कि बाहरी समानता के आधार पर यूरोप को एक महाद्वीप कह देना ठीक है लेकिन उनमें अंतर को वहाँ जाकर, वहाँ के लोगों से मिलकर, बात करके ही जाना जा सकता है।

---

[1] वही, पृ.54

[2] वही, पृ 65

अतः यह स्पष्ट है कि लेखक जहाँ भी भ्रमण करते हैं वहां समाज के पुराने आदर्शों, जीवन शैली और स्थापत्य कला की तह तक जाते हैं, उसे को जीवित रखने हेतु अपनी चिंता व्यक्त करते हैं तथा उनका मानना है कि असली जीवन उन पुरानी संस्कृतियों में ही है| इटली के शहर फिरेंजे और असीसी में घूमते हुये लेखक ने अनुभव किया कि वहाँ के भवनों में अभी भी पुरानी स्थापत्य कला जीवित है और ऐसा लगता है कि भवन निर्माण की नयी शैली से लोग परिचित ही नहीं हैं, इस पर लेखक कहते हैं--" सभी पुराने नगरों का असली जीवन उसकी नयी और चौड़ी सड़कों में नहीं बल्कि पुरानी और संकरी गलियों में ही पाया जाता है| जिन नगरों में लोक जीवन की परंपरा के साथ-साथ शिल्प और स्थापत्य की परम्परा भी मत्त्व रखती है-सच बात यह है कि एकीभूत और संश्लिष्ट समाज-जीवन में रह-सहन और कला-शिल्प की परम्पराओं को लग नहीं किया जा सकता.....|"[1]

लेखक ने भारतीय पुरातत्त्वविदों के बारे में भी कहते है कि पुरानी शैली के नाम पर कुछ सौ साल पहले के ही निर्माण हमें दिख पाते हैं। हजारों साल पहले हम निर्माण कैसे करते थे, यह अब किसी को याद नहीं रह गया है, इस पर अपनी चिंता व्यक्त करते हुए कहते हैं जैसे इतिहास की अनवरत धारा में से एक भाग कहीं गायब सा हो गया है।

पुस्तक में लेखक ने यूरोप के धर्म से परिचय कराया है। यूरोप के कुछ प्रसिद्द संतों की कर्मस्थली की यात्रा भी की है और उनके रहन-सहन, उनकी शिक्षाओं को जानने का भी प्रयास किया है, साथ ही यह भी जानने का प्रयास किया है कि उस समय की सामाजिक स्थिति और धार्मिक विचारधाराओं में ऐसा क्या था जिसने इन संतों के उत्थान में अपना योगदान दिया है। लेखक ने इस बात को उजागर करते हुए कहते है कि पहले कला और धर्म समान विचारधारा के आधार पर चलते थे। पंद्रहवीं शताब्दी के आसपास पुनरुत्थान के समय कला और धर्म अलग हो गया। कलाकार

[1] वही, पृ.35

सिर्फ दस्तकार रह गया। उसके द्वारा दिखने में सुन्दर अनेक वस्तुएं बनीं लेकिन उनमें वैचारिक शक्ति का अभाव था।

इस प्रकार प्रस्तुत यात्रा संस्मरण में लेखक का सूक्ष्म पर्यवेक्षी दृष्टिकोण उभरकर सामने आता है| लेखक केवल यात्रा के दौरान अनुभूत प्राकृतिक एवं भौगोलिक सौन्दर्य के अनुभवों को ही नहीं साझा करता है बल्कि उस स्थान-विशेष के तह में जाकर वहां की संस्कृति, राजनीतिक, धार्मिक, ऐतिहासिक परिवेश को भी साझा करता है, जो कि अतुलनीय है| यायावर जब यूरोप जाता है तो अपने साथ वह एक चीज ले कर जाता है, वह है भारतीय सांस्कृतिक, सामाजिक दृष्टिकोण और इसी दृष्टिकोण से वह यूरोप का वर्णन करता है, जिससे उनके इस पुस्तक में सर्वत्र तुलनात्मक दृष्टिकोण का परिचय मिलता है| यहाँ एक प्रबुद्ध चिन्तक एवं विचारक के माध्यम से यूरोप को देखते हैं, अर्थात "प्रस्तुत यात्रा-वृत्तों को पढ़कर सबसे पहले इनके लेखक का समृद्ध और संवेदनशील व्यक्तित्व हमारे सामने उभरकर आता है| प्रकट तथ्यों के बीच से झाँकने वाले अप्रकट सत्य को पकड़ने की लेखिकीय क्षमता की जांच सबसे अच्छी तरह यात्रा संस्मरण जैसे अकाल्पनिक वृत्त में हो सकती है| यह बात 'अरे यायवर, रहेगा याद!' में तो कम लेकिन 'एक बूँद सहसा उछली में पूरी तरह से दिखाई देती है|"[1]

इस प्रकार "अज्ञेय के दो यात्रासंस्मरणों- 'अरे यायावर, रहेगा याद!' (1953) और 'एक बूँद सहसा उछली'(1960) –में से पहले की पट-भूमि स्वदेश हैं| दूसरे में भूमि विदेशी है, पर दृष्टि एक शालीन बल के साथ स्वदेशी है| 'अरे यायावर, रहेगा याद!' में सर्जनात्मक चमक है, पर संघटित कलाकृति के रूप में 'एक बूँद सहसा उछली' को विशिष्ट उपलब्धि मन जाना सकता है| पहले यात्रा संस्मरण में वर्णन और विवरण अधिक हैं, दुसरे में एक संवेदनशील और प्रबुद्ध मन का चिंतन और प्रतिक्रिया है, दोनों कृतियों में इतने अंतर का एक कारन यह हो सकता है अरे यायावर रहेगा

[1] रामस्वरूप चतुर्वेदी, *अज्ञेय और आधुनिक रचना की समस्या*, भरतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, छठा संस्करण, 2011,पृ.104

याद के कुछ वृत्त शायद काफी पहले के लिखे हुए हों, और उसका प्रकाशन अपेक्षाकृत बाद में हुआ है|"[1]

[1] वही, पृ.103

चतुर्थ अध्याय

भवंती, अन्तरा और शाश्वती का वैचारिक अध्ययन

4.1 प्रस्तावना

4.2 डायरी विधा तथा अन्तः प्रक्रिया के स्वरूप

4.2.1 डायरी का स्वरूप

4.2.2 अन्तःप्रक्रिया का स्वरूप

4.2.3 डायरी एवं अन्तः प्रक्रिया में अंतर

4.2.4 भवंती, अंतरा तथा शाश्वती का विधागत स्वरूप

4.3 अज्ञेय के अन्तः प्रक्रियाएं

4.3.1 भवंती

4.3.2 अंतरा

4.3.3 शाश्वती

चतुर्थ अध्याय

भवन्ती, अंतरा और शाश्वती का वैचारिक अध्ययन

4. 1 प्रस्तावना

आधुनिक हिंदी साहित्य में अज्ञेय का योगदान एक प्रतिभा-संपन्न कवि के अतिरिक्त कथाकार, समीक्षक, संपादक तथा चिन्तक के रूप में विशिष्ट माना जाता है| गद्य के अनेक विधाओं में विविध एवं विभिन्न छवियों के साथ इनकी अभिव्यक्त हुई है| अज्ञेय के काव्य, उपन्यास, कहानी पर तो बहुत शोध कार्य हुए परन्तु उनके अन्तःप्रक्रियाओं का एकत्र मूल्यांकन या अनुशीलन अभी तक प्रायः नहीं हुआ है| इस कारण उनकी सर्जना और चिन्तना का एक महत्वपूर्ण पक्ष अभी तक अनुद्घाटित रह गया है| इस पक्ष की विशेषताओं का विश्लेषण और मूल्यांकन करना हमारा अभीष्ट है| बहुमुखी प्रतिभा के धनी अज्ञेय के विचार उनके हरेक विधा में विद्यमान रहे हैं, कभी प्रत्यक्ष रूप से और तो कभी अप्रत्यक्ष रूप से| उपन्यास, कथा, कविता, नाटक में विचार अप्रत्यक्ष रूप से उपस्थित रहे तो निबंधों, संस्मरण, यात्रा-संस्मरण, अन्तः प्रक्रियाओं में यह प्रत्यक्ष रूप से उपस्थित रहे, उसमें भी विशेष रूप से अन्तः प्रक्रियाओं में | अज्ञेय ने अपने अन्त:प्रक्रियाओं को 'भवन्ती', 'अन्तरा' और 'शाश्वती' नामक शीर्षक से अभिहित किया है, जिसका विस्तृत एवं सधा हुआ रूप हमें उनके कविताओं, निबंधों, यात्रा संस्मरणों, संस्मरणों आदि में मिलता है|

यह पुस्तक डायरी विधा के निकट है पर डायरी नहीं हैं, लेखक ने इसे अन्तः प्रक्रिया कहा है, किस प्रकार यह पुस्तक डायरी विधा से संबंधित होने के बावजूद भिन्न है, इसके लिए हमें डायरी तथा अंतःप्रक्रिया क्या है, उसके स्वरूप क्या है, को जानना आवश्यक है|

4.2 डायरी विधा तथा अन्तः प्रक्रिया के स्वरूप

4.2.1 डायरी का स्वरूप

डायरी हिंदी गद्य साहित्य की समस्त विधाओं में अपना एक अलग स्थान रखता है| भारत में डायरी विधा लिखने की परम्परा का आरम्भ पाश्चात्य के प्रभाव से या उसके अनुकरण में हुआ| डायरी विधा की एक महत्वपूर्ण विशेषता यह रही है कि इसमें लेखक के सम्पूर्ण व्यक्तित्व की स्पष्ट छाप होती है| वास्तव में इसका लेखक स्वयं को केंद्र में रखकर ही विषय वस्तु का विश्लेष्ण कर रहा होता है| इसमें लेखक की ही दृष्टि से हम सबकुछ देखते हैं| डायरी साहित्यिक हो, यह आवश्यक नहीं है, और साथ ही इसमें साहित्यिक झलकियों का अभाव रहता है| यह कोई भी लिख सकता है, शायद यही कारण रहा है कि कुछ विद्वानों ने इसे साहित्य विधा के रूप में स्वीकार नहीं किया है| डायरी में दैनिक आधार पर घटित घटनाओं को व्यक्त किया जाता है| कुछ लोग डायरी में अपने दैनिक क्रिया-कलापों को समय एवं स्थान के साथ लिखते हैं तो वहीं कुछ लोग डायरी में अपनी विशेष निजी अनुभूतियों को कलात्मक और साहित्यिक रूप देते हैं| प्रारम्भ में डायरी लेखन विशेष रूप से दैनिक कार्यों को लेख-जोखा तैयार करने के उद्देश्य ही लिखी जाती थी| बहुत बाद में डायरी विधा ने साहित्यिक रूप लिया है|

'डायरी' शब्द की उत्पत्ति के सम्बन्ध में उमेशशास्त्री कहते हैं- "डायरी का शाब्दिक अर्थ प्रतिदिन की घटनाओं को प्रभावी ढंग से लेखन (Daily Record of Events) व्यवहार में हम देखते हैं कि डायरी या दैनंदिन लेखन में, उस प्रकार की

प्रवृति वाले लेखक, अपने दैनिक अनुभवों (थोड़े बहुत विस्तार से) का, भेटवार्ताओं, स्थानिक निरीक्षकों का विवरण देते हैं|"[1]

हिंदी विश्वकोश में डायरी के स्वरूप के बारे में लिखा गया है कि "नित्य प्रतिदिन के व्यक्तिगत लिखित अनुभवों को डायरी की संज्ञा दी गई है| इसे दैनंदिनी रोजनामचा और दैनिकी भी कहते हैं| जीवन के आरंभिक दिनों में डायरी पढ़ने पर व्यक्ति को अनुभव होता है कि उसके विचार किस रूप में परिपक्व हुए| अनुभवों, विश्वासों और आकांक्षाओं की प्रौढ़ता का विकास क्रम समझने का यह साधन बड़ा आकर्षक और रमणीय है|"[2]

रामचंद्र तिवारी डायरी के स्वरूप को व्याख्यायित करते हुए कहते हैं- "किसी दैनिक घटना के संदर्भ में अपने मन की उधेड़-बुन व्यक्त करने के लिए 'डायरी' सर्वोत्तम माध्यम है, हर घटना काल और स्थान की सीमा में बंधी होती है| इसलिए डायरी लेखन घटना के साथ तिथि और स्थान भी अंकित करना आवश्यक समझा जाता है| साहित्यकारों द्वारा लिखी जाने वाली डायरियों में अंकित तिथियाँ स्थान और घटनाएं काल्पनिक भी हो सकती हैं और सत्य भी| आत्मभिव्यक्ति के लिए कला-माध्यम के रूप में डायरी शैली का प्रयोग करने वाले साहित्यकार घटना की एतिहासिक यथार्थता को महत्त्व न देकर संभावना को महत्त्व देते हैं| वास्तविक घटनाओं को क्रमबद्ध अंकित करने वाली डायरियों का महत्त्व इतिहास की दृष्टि से अधिक होता है|"[3]

अतः डायरी लेखक अपनी डायरी में दैनंदिन घटनाओं का ब्यौरा लिखता है| दैनिक घटनाओं, क्रियाकलापों को व्यक्त करता है| अपने दैनंदिन जीवन में हर दिन आने वाले या विशेष क्षणों में आए अनुभव, आँखों-देखी, आस-पास के बदलते परिवेश की देखी विशेषता को डायरी में व्यक्त करता है| कुछ घटनाएं हमें आनंदित करती हैं,

---

[1] उमेश शास्त्री, *हिंदी गद्य का उद्भव और विकास,* देवनागर प्रकाशन, जयपुर, प्र.सं. 1989, पृ.209

[2] सं.फुलदेव सहाय, *हिंदी विश्वकोश, खंड-5,* नागरी प्रचारणी सभा, वाराणसी, प्र.स.1919, पृ.226

[3] रामचंद्र तिवारी, *हिंदी का गद्य साहित्य,* विश्विद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, एकादश संस्करण, 2016, पृ.583

कुछ अवसादग्रस्त| डायरी के स्वरूप एवं अर्थ के अंतर्गत कई सारी जानकारियां मिलती है| दैनंदिन की घटनाएँ क्रमबद्ध रूप से स्थान तथा काल के साथ प्रस्तुत किए जाते हैं| डायरी में कल्पना की कोई गुंजाइश नहीं होती क्योंकि यह सत्य पर आधारित होती है, साथ ही यह जरुरी नहीं डायरी का रोज लिखी जाए, इसमें लेखक स्वानुभूत विशेष क्षणों को उद्घाटित करता हैं, पर यह क्षण दिक्-काल से बंधे होते हैं|

डायरी लिखने वाला लेखक हो यह आवश्यक नहीं हैं| इसमें व्याकरण और वर्तनी, वाक्य विन्यास की शुद्धता आदि का सही होना अपेक्षित नहीं है| डायरी के द्वारा लेखक समकालीन समाज, धर्म, देश, सभ्यता व इतिहास का भी वर्णन करता है| जब डायरी संस्कृति व सांस्कृतिक संवाद की बात कर जाती है तो यह लेखक के 'मम्' से निकलकर 'ममेतर' की ओर प्रविष्ट करता है, तो यह साहित्यिक कृति बन जाती है|

कुछ विद्वानों का मानना है कि डायरी, आत्मकथा से परस्पर मिलती-जुलती विधा हैं परन्तु ध्यान से देखने पर एक स्पष्ट अंतर को देखा जा सकता है| डायरी रोज लिखी जाने वाली विधा है वहीं आत्मकथा में पूरे जीवनकाल को एक साथ शब्दबद्ध किया जाता है, हाँ यह हो सकता हैं आत्मकथा लिखने के लिए डायरी का संदर्भ लिया जाए| जहाँ डायरी में रोज के घटनाओं व प्रसंगों को उल्लेख किया जाता है वहीं आत्मकथा में कुछ विशेष घटनाओं को ही विषय बनाया जा सकता है| डायरी आत्मकथा से अपेक्षाकृत यथार्थ के निकट अधिक होता है|

4.2.2 <u>अन्तः प्रक्रिया का स्वरूप</u>

अंतःप्रक्रिया पर दृष्टिपात करने पर हम पाते हैं कि यह हिंदी गद्य साहित्य में एक नवीन गद्य विधा है| साहित्य में इसकी कोई पुष्ट परिभाषा नहीं मिलती, न ही इसकी कोई स्वतंत्र परंपरा रही है| अन्तःप्रक्रिया नाम से ही स्पष्ट है यह मन-मस्तिष्क से संबंधित विचारों को प्रतिपादित करने वाली विधा है, यहाँ अनुभव की प्रधानता होती है, ये अनुभव क्षणिक भी हो सकते हैं, और शाश्वत भी| अन्तःप्रक्रिया में लेखक

के तीक्ष्ण विचारों का उद्घाटन होता है, ये विचार दो शब्द में, एक वाक्य या एक अनुच्छेद में व्यक्त हो सकते है| अन्तः प्रक्रिया में भावों का उच्छवास होता है, यह पूरी तरह से व्यक्तिगत होती है, जो न तो काल संबंधी विवरणों से बंधी होती हैं न ही स्थान संबंधी, अर्थात इसमें स्थान और समय का विवरण देना आवश्यक नहीं होता है, न ही यह ढर्रेवर होती है| स्मृति पर आधारित यह विधा पूरी तरह से मनोभावों पर आधारित होती है|

4.1.1 डायरी एवं अन्तः प्रक्रिया में अंतर

डायरी और अन्तः प्रक्रिया परस्पर घनिष्ठ रूप से जुड़े हुए हैं, डायरी तथा अंत:प्रक्रिया दोनों ही मन मस्तिष्क के भावों को उजागर करते हैं, दोनों में ही स्मृतियों के आधार पर अनुभवों को घटनाओं व प्रसंगों के माध्यम से प्रतिपादित किया जाता है, पर बारीकी से देखने पर डायरी में हर घटना काल-क्रम तथा स्थान से बंधी होती है, जबकि अन्तःप्रक्रिया में ऐसा होना अनिवार्य नहीं है| डायरी अपेक्षाकृत ब्यौरेवार होती है, जबकि अन्तःप्रक्रिया का कोई ओर-छोर नहीं होता है| अन्तःप्रक्रियाएं डायरी की तुलना अधिक पर्सनल होती है, यहाँ सर्वत्र 'मैं' की प्रधानता रहती है, जबकि डायरी में भी लेखक के विचार तो व्यक्त होते ही हैं पर अन्य विषयों की भी प्रधानता रहती है| शैली के संदर्भ में अन्तःप्रक्रिया तथा डायरी लगभग सामान है, पर अन्तः प्रक्रियाओं में भावों का उच्छवास तीव्र होता है| इसलिए "प्रत्येक डायरी लेखक अन्तःप्रक्रिया लेखक नहीं हो सकता|"[1]

डायरी भविष्य में तिथि और स्थान का संदर्भ लेने के उद्देश्य से भी लिखी जा सकती है| अर्थात यह विवरणात्मक भी हो सकती है, पर अन्तः प्रक्रिया में विचारों के कणों का बाहुल्य होता है|

[1]रामचंद्र तिवारी, *हिंदी का गद्य साहित्य*, विश्विद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, एकादश संस्करण, 2016, पृ.990

4.1.1 भवंती, अंतरा तथा शाश्वती का विधागत स्वरूप

उपरोक्त निर्दिष्ट डायरी तथा अन्तःप्रक्रिया के स्वरूप से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'भवंती', 'अन्तरा' तथा 'शाश्वती' को लेखक ने क्यों अन्तः प्रक्रिया नाम से अभिहित किया है| इन तीनों पुस्तकों को जो चीज डायरी से अलग करती है वह है इनका दिक्-काल से बंधा नहीं होना| डायरी जहाँ समय तथा स्थान से बंधी होती हैं, वहीं इन पुस्तकों में कहीं भी स्थान तथा समय का उल्लेख नहीं मिलता है| डायरी के समान इनमें कहीं भी दैनंदिन घटनाओं का भी उल्लेख नहीं है| यह पुस्तक लेखक के अति सूक्ष्म विचारों के कणों का बाहुल्य हैं, जो लेखक के बहुत ही निजी अनुभवों का संकलन है| डायरी में जहाँ घटनाएं ढर्रेवर होती हैं वहीं इन पुस्तकों में लेखक के विचार में कोई भी क्रमबद्धता नहीं है| विचारों का कोई भी क्रमबद्ध प्रवाह नहीं है "उन्होंने इस चिंतन-यात्रा की अवधि, समय, क्रोनोलोजी का कोई हवाला नहीं दिया..|"[1] विचारों का उद्घाटन कहीं एक-दो शब्दों में हुआ है तो कहीं एक अनुच्छेद तो कहीं एक दो पृष्ठों में| कम शब्दों में व्यक्त विचार भी अपने आप में पूर्ण हैं| अज्ञेय ने भी इन पुस्तकों अन्तः प्रक्रिया कहा है|

यह हिन्दी साहित्य में सर्वथा नवीन विधा रही है। अज्ञेय ने इन अन्तःप्रक्रियाओं को अपनी रचनायात्रा का 'लॉगबुक' कहा है, वैसे तो 'लॉगबुक' का अर्थ 'रोजनामाचा' होता है, डायरी को भी हम रोजनामचा कहते हैं| पर यहाँ लॉग बुक का तात्पर्य दैनंदिन 'रोजनामाचे' से नहीं हैं, यह लॉगबुक उनकी रचनायात्रा का लॉगबुक है अर्थात साहित्य सृजन के समय वे जिस सृजन प्रक्रिया से गुजरे, जो भी विचार उनके मन-मस्तिष्क को उन्मथित करती रही, उन विचारों के संकलन है ये अन्तःप्रक्रियाएं| यह डायरी विधा के निकट होते हुए भी डायरी विधा से भिन्न हैं| ये न तो जीवनी है, न आत्मकथा, न यात्रावृत्त, न संस्मरण, न रेखाचित्र, न रिपोर्ताज। हाँ, यदि ये किसी विधा के निकट है तो डायरी के-लेकिन पूरी तरह डायरी भी नहीं है। इनकी एक स्वतन्त्र विधा है जिसे अन्त:प्रक्रिया ही कहना सर्वाधिक उपयुक्त होगा|

---

[1] निर्मल वर्मा, *कला का जोखिम,* राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, तीसरा संस्करण, 2001, पृ.102

कुछ विद्वानों ने इसे आत्मकथा के निकट पाया है, परन्तु लेखक को आत्मकथा लिखना कभी भी पसंद नहीं था, इसका जिक्र उन्होंने अपनी रचनाओं में कई बार किया है| उन्हें लगता था कि आत्मकथा प्रायः एकांगी, मनगढ़ंत तथा झूठ होती है| उनके अनुसार हर व्यक्ति गांधी नहीं हो सकता है, जो अपने जीवन के प्रत्येक सच्चाई को साहित्यिक रूप देना का साहस कर सके| साथ ही उन्हें आत्मप्रदर्शन कभी भी स्वीकार्य नहीं था| उनके शब्दों में –"मैंने आत्म-कथा लिखना कभी नहीं चाहा|.....आत्मप्रदर्शन भी उतना ही अप्रीतिकर लगता है जितना हमेशा| मेरे विचारों का भी कोई महत्त्व उनके मेरे होने के नाते नहीं है; इसलिए उनका निजी, विषयीगत, प्रस्तुतीकरण भी अनावश्यक है| विचार विचार है और उसी नाते उसकी कसौटी होनी चाहिए|"[1] इससे यह स्पष्ट है कि यह पुस्तक आत्मकथा तो कम से कम नहीं है|

निर्मल वर्मा के अनुसार इन पुस्तकों में व्यक्त विचारों में लीरिक तत्त्व और वैचारिकता के साथ-साथ रचयिता के व्यक्तित्व भी अभिव्यंजित हुआ है| अज्ञेय के अन्तः प्रक्रियाओं के विश्लेषणात्मक परिचय के संदर्भ में इसकी पड़ताल उपयुक्त प्रतीत होती है। अतः इन तीनों पुस्तकों को अन्तःप्रक्रिया कहना ज्यादा समीचीन होगा|

4.3 अज्ञेय के अन्तःप्रक्रियाएँ

अज्ञेय उन विरले लेखकों में से हैं जो बार-बार अपने ही विचारों से उलझते रहे, विचारों में उन्मथित रहे, स्वयं से प्रश्न करते रहे, इन्हीं प्रश्नों, विचारों, अकुलाहटों, द्वंदों का परिणाम ये **'भवन्ती', 'अन्तरा', तथा 'शाश्वती'** हैं, या कह सकते हैं कि उन प्रश्नों, मानसिक द्वंदों के उत्तर की खोज में एक प्रयास है| 'भवंती', 'अन्तरा', 'शाश्वती' उनके अन्त:प्रक्रियाओं का संकलन है। इसे लेखक ने अपनी रचना यात्रा का लॉगबुक कहा है| उन्हीं के शब्दों में: "भवन्ती में उस यात्रा की लॉगबुक है जिसमें जब तब

[1] सं.कृष्णदत्त पालीवाल, *अज्ञेय रचनावली,खंड-9, (डायरी-अन्तःप्रक्रियाएं)*, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 2012, पृ.225

दिक्-काल की माप की टीप लिखी जाती रही है, जिसके आधार पर यात्रा के पथ-चिन्ह अनुकूल और प्रतिकूल स्थितियाँ तथा धाराएँ, जोखिम, भटकन, प्रत्युत्पन्न सूझ आदि का मिलता रहे। ....उद्देश्य यही है कि मेरे पाठक उस पूरे परिदृश्य, उस सागर पथ का एक बार अवलोकन करके उसे पहचान लें जिससे मैं गुजरता आया हूँ|"[1]

ये अन्त:प्रक्रियाएं अज्ञेय की रचना यात्रा से सीधे जुड़ी हैं| अज्ञेय के लिए किसी भी साहित्य की रचना हेतु तनाव का उर्जा आवश्यक है, तभी वह रचना का रूप ले सकती है, 'स्मृति लेखा' में भी वे एक स्थान पर लिखते हैं कविता तनाव की उर्जा की मांग करती है-और जिस तनाव व यन्त्रणा की बात लेखक ने की है उसी तनाव, यंत्रणा भरी प्रक्रिया का उद्घाटन इन अन्तः प्रक्रियाओं में हुआ है|

अपनी अन्त:प्रक्रियाओं के दूसरे संकलन 'अंतरा' के 'निवेदन' में अज्ञेय लिखते हैं : "इन दो संचयनों में इस बात का काफी संकेत मिल जाएगा कि पिछले दस-बारह वर्षों में कौन से, कैसे साहित्यिक या साहित्य संपृक्त प्रश्न मुझे उन्मथित करते रहे हैं अथवा चुनौती देते रहे हैं। केवल समकालीन घटना-पटल को देखने वाले व्यक्ति के रूप में नहीं, बल्कि ऐसे व्यक्ति के रूप में जिसका अपना जीवन और कर्म उन प्रश्नों के साथ बँधा है। इसका भी कुछ संकेत पाठक को मिला होगा कि उन प्रश्नों से जूझता हुआ मैं किधर जा रहा हूँ, उस संघर्ष में कौन से प्रमाण मेरा सम्बल है, कौन-सी युक्तियाँ मेरे साधन, कौन-से लक्ष्य मेरी प्रेरणा|"[2]

उक्त कथन से स्पष्ट है कि उन्होंने इन पुस्तकों में साहित्यिक संबंधी तत्कालीन समस्याओं पर विचार किया है, वे इन समस्याओं के केवल द्रष्टा नहीं रहे हैं बल्कि ये समस्याएं उनके निजी जीवन से भी उतनी ही जुड़ी हुई है| बहरहाल अज्ञेय ने अपनी इन रचना-यात्राओं में जीवन, समाज, साहित्य, भाषा आदि के बारे में निरंतर चिन्तन से हिन्दी साहित्य को संवृद्ध किया है| नैतिकता, ईश्वर, दिक्-काल, धर्म, स्वाधीनता, मूल्य, परम्परा, आधुनिकता, भारतीयता, यथार्थ, मिथक, संस्कृति तथा छन्द आदि

---

[1] सं.कृष्णदत्त पालीवाल, *अज्ञेय रचनावली,खंड-9, (डायरी-अन्तःप्रक्रियाएं)*, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 2012, पृ.54

[2] वही, पृ.169-170

अनेक विषयों से संबंधित गम्भीर चिन्तन-मनन इन अन्त:प्रक्रियाओं में संकलित है। इन तीनों पुस्तकों के बारे में निर्मल वर्मा कहते हैं- "इन तीनों पुस्तकों में अज्ञेय ने विगत जीवन के फैले चिंतन-संसार से कुछ अंश,विचारखंड, सूक्तियां, यात्राओं के इम्प्रेशंस जमा किए हैं| उन्होंने इस चिंतन-यात्रा की अवधि, समय, क्रोनोलोजी का कोई हवाला नहीं दिया, जो मुझे कुछ अजीब-सी बात लगती है| हमें कुछ पता नहीं चलता, कौन सी पुस्तक, उपन्यास या कविताएँ लिखते हुए या किन राजनैतिक, सामाजिक घटनाओं के संदर्भ में उनके ये विचार या प्रतिक्रियाएं एक 'शाश्वत अर्थ' के अलावा एक निजी तत्कालिक दबाव प्रस्तुत करती है, इसीलिए इन पुस्तकों में सिर्फ एक फैला हुआ चिन्तन-प्रदेश मिलता है, यात्रा का उतार-चढ़ाव नहीं, मील के पत्थर नहीं, जिन पर एक क्षण बैठकर हम लेखक के पॉव चिन्ह्र ऑक सकें, कहॉ वह ठिठका था, कौन-सी राह चुनी थी, किस पगडण्डी पर कुछ दूर चलकर वापस मुड़ गया था: हमें यह भी पता नहीं चलता, किस ठोकर की आह और दर्द इन पन्नों पर अंकित है|"[1]

इस संदर्भ में अज्ञेय की एक टिप्पणी द्रष्टव्य है- "भोगने वाले व्यक्ति और रचने वाली मनीषा के अलगाव की पुरानी चर्चा में जब कहा गया था कि दोनों के बीच एक दूरी है और जितना बड़ा कलाकार होगा उतनी अधिक दूरी होगी|[2] इससे स्पष्ट है कि यहाँ लेखक ने कभी नहीं चाहा कि अपनी व्यथा वह पाठकों के समक्ष व्यक्त करके बदले में उनकी साहनुभूतिप्राप्त करे क्योंकि सर्जन-प्रक्रिया का मूल उत्स ही कष्टमय होता है और यह कष्ट जितना ही प्रबल होगा रचना उतनी ही महत्वपूर्ण होगी। लेखक स्वयं कहते हैं-"जिन छोटे-छोटे प्रकरणों को जोड़कर यह पुस्तक बनी है, वे प्राय: सभी छोटे-छोटे युद्धों के इतिहास हैं, प्रत्येक के पीछे एक यंत्रणा-भरी प्रक्रिया रही है। इतना ही है कि समूची पुस्तक में एक ही रचना की प्रक्रिया में पाई हुई यंत्रणा से मिलने वाली संहति नहीं है, वह फुटकर प्रक्रियाओं का संकलन है जिसके पीछे उतनी ही फुटकर,

---

[1] निर्मल वर्मा, *कला का जोखिम,* राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, तीसरा संस्करण, 2001, पृ.१०102-103

[2] सं.कृष्णदत्त पालीवाल, *अज्ञेय रचनावली,खंड-9, (डायरी-अन्त:प्रक्रियाएं)*, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 2012, पृ.53

विविध और वैचित्र्यमयी यन्त्रणा रही है। संहति उसमें है तो रचना के माध्यम से नहीं, रचयिता के जीवनानुभव के माध्यम से|"[1]

4.3.1 भवंती

भवंती का प्रकाशन सन् 1972 में हुआ| इसमें लेखक के 1964 से 1970 तक के विचार संकलित है| प्रारम्भ में ही इस पुस्तक की सृजन प्रक्रिया के बारे लेखक कहते हैं "यह पुस्तक रची नहीं गयी है, बन गयी- बल्कि जुड़ गयी है|"[2] लेखक ने अपने कई विचारों को संकलित किया है| लेखक के लिए सर्जन प्रक्रिया एक यंत्रणा भरी प्रक्रिया होती है, और यह पुस्तक उसी यंत्रणा भरी प्रक्रिया का परिणाम है|

लेखक 'भवंती' की रचना के उद्देश्य को रेखांकित करते हुए कहते हैं –"अन्तिम कुछ नहीं है, सहयात्री सिवा इस माँग के कुछ मूल्य हों जिनकी ओर बढ़ते जाया जा सके, और सिवा उधर की यात्रा के आनन्द के|"[3] अपनी इस बात को और अधिक स्पष्ट करते हुए 'अज्ञेय' 'भवन्ती' की ही एक प्रक्रिया में लिखते हैं-"अगर मेरे लिए मृत्यु नहीं है, तो फिर जीवन भी मेरे लिए नहीं है। मैं आज जीता हूँ यह उतनी ही सांयोगिक बात है जितनी यह कि कल मैं मर जाऊँगा। मुझे दोनों की चिन्ता छोड़कर कुछ और से उलझना चाहिए, किसी दूसरी चीज को अपना लक्ष्य, साध्य, शोध्य बनाना चाहिए। वह 'और' क्या है या हो सकता है मूल्य। लेकिन कौन सा मूल्य? लोग कहते हैं 'जीवन-मूल्य|"[4] प्रस्तुत कृति में लेखक के विचारों का तीव्र प्रवाह है| कभी ये विचार नैतिकता के प्रश्नों से उलझ जाते हैं तो कभी ये विचार मूल्य के प्रश्न से, तो कभी काल के| पुस्तक में सर्वत्र लेखक के विचारों का तीक्ष्ण रूप विद्यमान है, जो पाठकों में कभी-कभी खीझ भी उत्पन्न कर सकती है, बेचैन भी कर सकता है तो कभी गहन रूप

[1] वही, पृ.53

[2] वही,पृ.53

[3] वही,पृ.55

[4] वही, पृ 151-152

से विचारने हेतु बाध्य भी| नैतिकता तथा मूल्य के अतिरिक्त इस पुस्तक में लेखक ने राजनीति, धर्म, तत्कालीन सामाजिक तथा सांस्कृतिक परिस्थिति , प्राकृतिक सौन्दर्य, काल आदि विषयों पर अपने विचार व्यक्त किए हैं|

चर-अचर की दुनिया को लेखक ने इतने सूक्ष्मता और बारीकी से प्रस्तुत किया है शायद ही किसी लेखक ने किया होगा| पेड़ से लययुक्त गति के साथ गिरते हुए झरते पत्ते या झड़े हुए पत्तों के बीच चलने को बड़े ही सूक्ष्मता के साथ वर्णन करते हैं, इससे से अधिक सुन्दर चीज की कल्पना वे नहीं कर सकते हैं| झड़ते हुए पत्तों को इस तरह प्रस्तुत करते हैं मानों "कैमरे की आंख की तरह उनकी दृष्टि हर लय, थिरकन और ठहराव को पूरी डिटेल के साथ रजिस्टर करती है"[1] लेखक के शब्दों में – "पतझड़ के झरते पत्ते से अधिक सुन्दर किसी चीज़ की कल्पन्ना नहीं कर पा रहा हूँ| यह धीरे-धीरे, लय के साथ डोलते हुए झरना-मानो धरती गुरुत्वाकर्षण से मुक्त होकर, भार मुक्त होकर तिरना.....सृष्टि मात्र में इससे बड़ा सौभाग्य क्या और इससे बड़ा सौन्दर्य क्या... पत्ते यों झरते जाएं और मैं उन्हें देखता जाऊं- लगता है इसी में कालमुक्त हो जाऊंगा!"[2] और यही झड़ते हुए पत्ते लेखक को कालमुक्त करते हैं, क्योंकि झड़ते हुए पत्ते देखते हुए वे इतने लीन हो जाते हैं कि अतीत और भविष्य की चिंतन से मुक्त हो जाते हैं, विचारहीन हो जाते हैं और केवल उस उस क्षण को जीते है, जो वर्तमान है| फिर यही झड़ते हुए पत्ते लेखक का अकेलापन भी दूर करती हैं| लेखक को झड़ते हुए पत्ते इसलिए पसंद है कि लेखक को चलना इसलिए भी अच्छा लगता है क्योंकि इन सूखे पत्तों पर उनके पड़ते कदम से रौंदे जाते पत्तों की सर-सराहट-खड़-खड़ाहट की आवाज उनके अकेलापन को दूर करती है, एक सख्य तथा समीप का अनुभव होता है लेखक को| लेखक अकेलापन स्वयं नहीं चुनते, केवल स्वीकार करते हैं| " नहीं| मैं अकेलापन चुनता नहीं हूँ, केवल स्वीकार करता हूँ|"[3] पर वे अकेले क्यों हैं, बार-बार ये सवाल वे स्वयं से करते हैं क्या कारण है जो इस रास्ते में अकेले हैं, उनके साथ कोई

---

[1] निर्मल वर्मा, *कला का जोखिम,* राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, तीसरा संस्करण, 2001, पृ.104

[2] वही, पृ.58,

[3] वही पृ.59

नहीं हैं, फिर अपने इस सवाल का आशंका भरी जवाब देते हुए कहते हैं- "अकेला तो मैं हूँ| ठीक है, अकेला हूँ| पर क्यों अकेला हूँ ? क्या इसलिए कि मैं राह से भटका हुआ हूँ और इस तरह विरान में आ गया हूँ? या कि इसलिए कि राह मुझे दिखी तो मैंने उसे छोड़ा नहीं, चाहे वह मुझे बीहड़ में ले जाए? क्या मेरा अकेलापन मेरे दारिद्रय का परिणाम है, मेरी स्वाधीनता का, जिसके कारण कोई साथी नहीं मिला या बना- या कि ईमानदारी का, कि मैंने जब तब जिससे-तिससे समझौता नहीं कर लेना चाहा? क्या दुर्बल हूँ इसलिए अकेला हूँ, या समर्थ हूँ इसलिए अकेला हूँ?

या कि इसलिए अकेला हूँ कि किसी को साथ लेने में डरा हूँ| यह मानकर कि किसी को पास आने देने से मैं बंध जाऊंगा?

स्वाधीन हूँ इसलिए अकेला हो गया, या कि डरा इसलिए अकेला रह गया?[1] इस प्रकार लेखक बार-बार स्वयं से सवाल पूछते हैं| यही प्रश्न उनके निबंधों में भी द्रष्टव्य है, अपने निबंध 'अकेलापन' में कहते हैं- "लेकिन प्रश्न यह था कि लोग अकेले बैठकर सोचा करते हैं तो क्या सोचा करते हैं?|"[2] अकेले होने की स्थिति को व्यक्त करते हुए कहते हैं –"अकेला होना-निपट अकेले-इतना अकेले कि सदा, निरंतराल, मनचाही संगति में रह सकें....|"[3] इस पंक्ति से स्पष्ट है कि लेखक को अकेलापन पसंद हैं| इसकी व्याख्या अपने निबंध अकेलापन में भी करते हैं- "अजीब चीज है अकेलापन| गूंगे का गुड़| उसका रस वर्णनातीत है| क्योंकि वास्तव में अकेलापन वह तभी तक है जब तक आप उसमें डूबे हुए हैं, उससे अलग होकर उसको नापने-जोखने, उसका रस खींचने या उसके रस का स्वाद पहचानने का यत्न नहीं कर रहे हैं|"[4]

प्रस्तुत कृति में लेखक का कवि रूप भी उभरकर सामने आया है| हम सभी इस बात से परिचित हैं कि अज्ञेय की हिंदी भाषा के साथ-साथ अन्य भाषाओं में पकड़

---

[1] वही, पृ.80-81

[2] अज्ञेय, *सब रंग कुछ राग,* नैशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली, 1982, पृ.28

[3] सं.कृष्णदत्त पालीवाल, *अज्ञेय रचनावली,खंड-9, (डायरी-अन्तःप्रक्रियाएं)*, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 2012, पृ.162

[4] अज्ञेय, *सब रंग कुछ राग,* नैशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली, 1982, पृ.28

थी, जिस कारण कहीं बँग्ला, कहीं अंग्रेजी भाषा में उनके विचार कविता के रूप में व्यक्त हुए हैं| एक स्थान में लेखक ने बंगला कविता के माध्यम सामाजिक परिस्थिति को दर्शाते हुए राजनीति परिदृश्य को उजागर किया है, पर बंगला कविता को देवनागरी लिपि लिखा गया है-

धूलो खेलाय कउड़ि पेलाम

कउड़ि निये दिल्ली एलाम

दिल्ली होलो राजार देश

टाका-पयशा होलो शेष

शेषे गेलाम नेतार काछे

हाजार लोक ता'र आशे-पाशे

इलेक्शने ब्येस्त छिलेन

तबू दया करे देखा दिलेन

बल्लेन : "एमन कोरो भाइ

भोट जेनो आमि पाइ|"

बल्लाम ओर मुखेर दिगे चाय

"आमार किन्तु, सर, खिधे पाय!

की जे कोरबो कि जे ना

भेबे, सर, कि बोल्बेन ता?"

हेशे बल्लेन, "देखो, भाइ,

कोथाय के जा' खिधे नाइ?

शहज्ज करे थेको आज

बलि चाय देशेर काज|"

नेता के बले, "हुजूर सलाम!"

दिल्ली थेके फिरे एलाम|

दिल्ली लाड्डू धुलाय मेश|"[1]

प्रस्तुत कविता के माध्यम से लेखक ने तत्कालीन सामाजिक परिस्थिति को दर्शाते हुए राजनेताओं का पर्दाफाश किया है| फिर वहीं राजनेताओं पर व्यंग्य करते हुए द्विअर्थी शब्दों में कहते हैं-"उन सड़कों पर जाइए जिन पर मिनिस्टरों के बंगले हैं: लम्बी वीथियों पर फूले हुए उल्लू के पठ्ठे छा गए हैं|"[2] हालाँकि उपरोक्त पंक्तियों में लेखक ने मिनिस्टरों को उल्लू के पट्ठे के फूल अर्थात काइजेल्ला पिन्नाटा का फल कहा है, पर यहाँ लेखक ने व्यंग्यात्मक रूप से कहा है, उनके अंदर समकालीन राजनीतिक व्यवस्था से एक प्रकार विद्रोह और नकार का भाव था, जो इन तीनों पुस्तकों में जगह-जगह बिखरी पड़ी हैं| लेखक राजनीति को सबसे बड़ा दूषण मानते हैं- "राजनीति की परिभाषा आसान है| आज सारी दुनिया दूषित वायु-मंडल(एयर पॉल्यूशन) की चर्चा कर रही है; सामाजिक (और विशेषतया साहित्यिक) वायुमंडल का सबसे बड़ा दूषण आज राजनीति है|"[3]

इसी क्रम में लेखक में अपनी धर्म संबंधी विचारों का निष्पादन करते हैं, धर्म के नाम दिन पर दिन बढ़ रहे लूट-खसोट पर अपनी चिंता व्यक्त की है| उन्हें मंदिर

---

[1] सं.कृष्णदत्त पालीवाल, *अज्ञेय रचनावली,खंड-9, (डायरी-अन्तःप्रक्रियाएं)*, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 2012, पृ.63. अज्ञेय को संस्कृत, फारसी, हिंदी, बंगला तथा अंग्रेजी भाषा की बहुत अच्छी पकड़ थी| यही कारण है अज्ञेय द्वारा अनुदित 'गोरा' उपन्यास अब तक श्रेष्ठ अनुवाद है|

[2] वही-89

[3] वही 89

जाना पसंद हैं, पर वैसे मंदिरों में जहाँ वे भगवान के साथ एकांत समय बीता सके, अर्थात जिन मंदिरों में शांति हो वहां जाना पसंद है, पर लेखक चिंतित है अब वैसे मंदिर रह नहीं गए हैं "पर वैसे मंदिर रह कहाँ गये ....तीर्थों में देवदर्शन पर टिकट लगता है: पर्ची न कटाइये तो दर्शन नहीं होते, मंदिर के बाहर चक्कर काट लीजिए! जहाँ ऐसा नहीं है, वहां असंख्य संकट हैं जिनके कारण न एकांत मिलता है, न शांति, न एकाग्रता या मनः संधान की संभावना|"[1]

वहीं दूसरी तरफ लेखक धर्म के वाणिज्यिककरण होने पर चिंतित हैं तथा लिखते हैं किस प्रकार धर्म की आड़ में एक बहुत बड़ा समुदाय व्यवसाय कर रहा है-" पंडों का यूनियन है: परची कटाइये तब गोविन्द को भजिए| मंदिर जाना न हुआ, अस्पताल की विजिट हो गयी| नहीं, उतना भी नहीं; अस्पताल में भी भावना-मूलक अधिकार की कुछ तो रक्षा होती है| राशन की दूकान की खरीददारी हो गयी-जितने यूनिट की आपकी पर्ची है उतने यूनिट भगवान भज लीजिए; उतना पुन्न खरीद लीजिए|.....अब या तो देवते भी एक जवाबी यूनियन बना कर कहें कि हमारे फंडामेंटल राइट्स में बाधा हो रही है|"[2] यहाँ लेखक ने तत्कालीन समाजिक धार्मिक स्थिति पर बड़ा ही व्यंग्यात्मक प्रहार किया है| लेखक के अनुसार ईश्वर सभी स्थानों पर है, इसके लिए किसी कैलासधाम जाने की आवश्यकता नहीं है| उनके शब्दों में- "मैं शायद 'हीन-यानी' हिन्दू हूँ! बिड़ला मंदिर हिंदूधर्म का महायान है|

नंदी की पूँछ से लटककर मैं क्यों 'भूल से' (किसकी?) कैलासधाम पहुँच जाना चाहूँ?

शंकर का शं जहाँ भी मैं हूँ वहीं सुन लूँगा; जहाँ भी सुन पाऊंगा वहीं कैलास होगा|"[3]

सर्वविदित है कि लेखक भाषा के प्रति बहुत ही सजग रहे हैं, अपने इन अन्तः प्रक्रियाओं में भी लेखक ने भाषा के विषय पर बात करते हुए उसे संस्कृति का संवाहक माना है| उनके अनुसार भाषा ही एकमात्र चीज़ है जो हम मानवों को पशु से अलग

---

[1] वही, पृ 64,

[2] वही, पृ.65

[3] वही, पृ .65

करती है| भाषा मनुष्य की मूल्यवान सृष्टि है, जो उसके सीधे अस्तित्व के साथ जुड़ी हुई है- "भाषा मनुष्य की सबसे मूल्यवान सृष्टि है क्योंकि सच्चाई को पहचानने, अपना लेने, 'नाम देने' का वाही एक साधन हमारे पास है और वही हमें पशु से अलग करता है जिसके आस-पास चीज़ें हैं पर नाम नहीं है|"[1]

लेखक की खोज भाषा के गतिमान रूप खोज रही है, उन्हें विकासमान भाषा स्वीकार्य है| उनके शब्दों में "मेरी खोज भाषा के स्थिर की नहीं, गतिमान रूप की रही|"[2] इसलिए हिंदी राष्ट्रभाषा हो या न हो सर्वप्रथम वह हिंदी के विकासमान स्वरूप की कामना करते हैं| उनके अनुसार राष्ट्रभाषा के नाम पर जिस हिंदी की बात की जा रही है वह स्थिर, थोड़े से आसान नियमों से बंधी हिंदी को वो राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकार नहीं करते हैं-"स्थिर स्वरूप की, बंधे नियम शर्त की, सर्व-सुबोध भाषा के नाम पर एक चरित्रहीन, प्राण-रहित हिंदी को राष्ट्रभाषा का पद देने का प्रयत्न भी कुछ कम भ्रान्त या आपज्जनक नहीं है| थोड़े-से आसान नियमों से नियंत्रित कृत्रिम भाषा 'राष्ट्रभाषा' नहीं हो सकती, न होगी| सरकारी सूचनाओं-आदेशों के लिए (जो चरित्रहीन, प्राणहीन होने में ही अपनी खैर और अपनी शान समझते हैं, उन्हें गढ़ने वाली नौकरशाही की तरह) वैसी भाषा पर्याप्त हो, हुआ करे; साक्षरता-प्रसार के लिए भी वह उपयोगी हो, हो| न सरकार और राष्ट्र पर्यायवाची हैं न उन्हें होने देना चाहिए! न साक्षरता-प्रसार के तर्क हैं न एक तत्कालीन भाषा को राष्ट्रभाषा मानने की भूल करनी चाहिए|"[3] प्रस्तुत पंक्तियों से यह पूरी तरह से स्पष्ट है कि जिस हिंदी भाषा को राष्ट्रीय भाषा के रूप में अभिहित किया जा रहा है वह कृत्रिम और प्रयोजन मूलक भाषा है, जो लेखक को कदापि भी पसंद नहीं था|

लेखक ऐसी भाषा को राष्ट्रीय भाषा बनाने का समर्थन नहीं करते जो विकासमान न हो और लेखक के अनुसार हिंदी विकासमान भाषा है, उसे राष्ट्रीय भाषा के रूप में वैसी ही स्वीकार की जाए, जैसे वह है, विकासमान, निरंतर बदलती हुई भाषा, उसे

---

[1] वही,पृ.99

[2] वही,पृ. 96

[3] वही, पृ. 97

किसी नियमों से बंधा न जाए| उनके शब्दों में- "...राष्ट्रभाषा हो या न हो, राष्ट्र के जीवन में संयोगकारक कड़ी का पद उसे क़ानूनन दिया जाए या न दिया जाए, वह सबसे पहले और अनिवार्यतया एक विकासमान भाषा है| विकासमान है, इसलिए वह निरंतर बदलती भी रही है और साथ ही उसका एक स्थिर प्रमाणिक और मानक रूप भी है| ऐसा है, तभी उसकी प्रतिमा और प्रतिष्ठा का विचार हो सकता है; ऐसी ही भाषा राष्ट्रभाषा हो सकती है..."[1]

लेखक साहित्य के क्षेत्र में भाषा को प्रमुखता देते हुए उसे यथार्थ से जोड़ते हैं| उन्होंने समकालीन यथार्थ की खोज को भाषा की खोज कहा है| सामाजिक परिवेश नित-प्रतिदिन परिवर्तित होते रहते हैं| अज्ञेय कहते हैं आज के लेखक सामाजिक परिवर्तन की गतिशीलता से आक्रांत है तथा एक अत्यंत ही गतिशील यथार्थ को पकड़ने में जुटा है| उनके अनुसार यथार्थ को तभी पकड़ा जा सकता है जब भाषा की पकड़ हो-"भाषा नहीं है तो पकड़ नहीं है अर्थात साहित्य के संदर्भ में यथार्थ नहीं है|"[2] इसका उदाहरण देते हुए वे प्रेमचन्द के 'गोदान', टैगोर के 'गोरा' तथा रेणु के 'परती-परिकथा' से करते हुए कहते हैं-"रविंद्रनाथ नाथ के 'गोरा' में शहर और शहरी अभिजात व्यक्ति जीवंत है; गाँव की दुनिया का संकेत-भर है और उसके यथार्थ के साथ गोरा का आदर्शवादी लगाव-भर है| प्रेमचन्द के गोदान में स्थिति उलट गयी है: गाँव और गाँव का पात्र जीता है, शहर 'वहां दूर कहीं' है जहाँ गाँव के लोग भाग कर रोजी कमाने जाते हैं: शहरी समाज का एक आदर्शवादी तिरस्कार-भर है| फणीश्वर 'रेणु' की 'परती परकथा में' पूरा गाँव है, वही पूरा परिदृश्य है, पर कितना परिवर्तनशील परिदृश्य! पूरा उपन्यास ग्राम-समाज की संक्रांति का चित्र है|"[3] लेखक के अनुसार टैगोर, रेणु एवं प्रेमचंद में भाषा की वह पकड़ थी जो साहित्य में यथार्थ के

---

[1] वही, पृ. 97 इसी संदर्भ में लेखक पुनः कहते हैं भाषा "विकासमान है, इसलिए बदलती है, इसलिए स्थिर हैं| इसीलिए –और दोनों रूपों के साथ यह बात एक-सी सच है-उसकी गहरी जड़ें हैं| वह जन-मानस की गहराई से उपजी है- अंकुरित होकर पल्लवित-पुष्पित हुई है|...मैं बराबर उसके चल रूप का अनुधावक रहा हूँ|"

[2] वही, पृ.105

[3] पृ.106. भाषा के महत्त्व को और बल देते हुए कहते हैं-"समाज अपनी छाप लेखक पर डालता है| लेखक फिर 'समाज' की रचना करता है: भाषा के माध्यम से| 'समाज' और समाज को समक्ष रखकर हम लेखक के यथार्थ बोध की कसौटी करते हैं, उनके मन का मूल्याङ्कन करते हैं|"

रेखांकन हेतु अपेक्षित है, तभी इन तीनों लेखकों ने अपने साहित्य में पल-पल परिवर्तनशील सामाजिक यथार्थ का चित्रांकन किया है|

इस प्रकार लेखक ने भाषा को संस्कृति वाहक मानते हुए सभी क्षेत्रों में इसकी महत्ता का प्रतिपादन किया है| अपने निबंधों में भाषा की महत्ता पर विचार करते हुए लिखते हैं "हम जो भाषा बोलते हैं उसके द्वारा हम वह संसार चुन लेते हैं जिसमें हम रहते हैं, या इसी बात को उलटकर यों कहें कि हम जो बोलते हैं उसके निमित्त से हम जीवन व्यवस्था के लिए चुन लिए जाते हैं, एक निर्दिष्ट स्थान और धर्म पा लेते हैं, उसे निबाहने के लिए स्वतंत्र हो जाते हैं|"[1] भाषा को उन्होंने सबसे पुरानी, सबसे कड़ी, अनुल्लंघ्य सांस्कृतिक रूढ़ि माना है|

अज्ञेय भाषा के साथ-साथ शब्दों के चयन के प्रति हमेशा सचेत रहे, इसलिए उन्हें प्रयोगशील कवि के रूप में जाना जाता है| शब्दों के चयन में लेखक हमेशा से मितव्ययी रहे हैं, अपनी कृति में किसी भी शब्द का चुनाव पहले बहुत सोच-विचारकर करते थे, एक-एक शब्द चयन में वे अपनी पूरी उर्जा लगा देते थे| विशेषकर काव्य में वे शब्दों के चयन के प्रति अपनी राय देते हुए लिखते है –"सही शब्द पहचानना तो काफी नहीं है, सही शब्द ढालना,उच्छृत करना और करते रह सकना ही तो कवि पद है|"

शब्दों के चयन के प्रति उनकी सजगता प्रस्तुत पुस्तक के एक प्रक्रिया में उजागर होती है, जहाँ लेखक किसी अन्य कृति के सृजन प्रक्रिया के सम्बन्ध में अपने अनुभव को साझा करते हैं किस प्रकार पुस्तक के पूरे होने पर उसके टंकण के पश्चात् कुछेक शब्द छुट जाने पर सही शब्द न मिलने पर व्यग्र हो जाते हैं- "पुस्तक पूरी हो गयी है| .....पर कहीं कहीं अटक गया हूँ| टंकण में कुछ शब्द या पद छूट गये हैं| (दिठ उछटी होगी या पढ़े न गए होंगे|) कहीं तो तत्काल उन रिक्तों की पूर्ति कर दी है, कहीं नहीं सोच पाया हूँ कि मूल में (जो मेरे सामने नहीं है) क्या लिखा था| क्यों नहीं सोच

[1] भाषा और अस्मिता, *सर्जना और संदर्भ, अज्ञेय*, नेशनल पब्लिशिंग हाउसिंग, नई दिल्ली, सं.2004, पृ- 291

पाया? सब कुछ याद हो यह जरूरी नहीं है; पर अगर एक जगह के लिए एक ही सही शब्द होता है तो वह मुझे क्यों नहीं सूझता या याद आता ? कई एक शब्द रखकर देखता हूँ : उनमें से कोई भी अर्थ दे जाएगा, 'चल जाएगा,' पर भीतर गहरे में जानता हूँ कि वह शब्द वहां नहीं था| अर्थ दे जाएगा, स्वीकार भी हो जाएगा, शायद किसी को संदेह भी न हो कि यह शायद स्थापन्न है, इसलिए 'भरती' है- पर मैं तो जानता हूँ, मुझे वह लकलक-सा तुरंत अलग दीख जाएगा, दीख जाया करेगा ! यहीं अटक है; और मैं नहीं तय कर पाता कि क्या करूँ| चाहूं तो प्रसन्न हो सकता हूँ कि सही शब्द की पहचान मुझे है, भले ही वह मिल नहीं रहा है(याद नहीं आ रहा) नहीं तो दुखी हो सकता हूँ क्यों वह शब्द अभी तत्काल मेरा वंशवाद नहीं है? मैं दु:खी ही अधिक हूँ| जानता हूँ कि रचना-क्षण की आग में जो तपा कुंदन निकलता है, ज़रूरी नहीं है कि वह हर समय उपलब्ध हो|"[1] इस अन्तः प्रक्रिया में शब्दों के प्रति लेखक की सजगता स्पष्ट रूप से झलकती है, किस प्रकार वो अपनी साहित्य सृजन में एक ही शब्द को लेकर मंथन करते रहते हैं, शब्दों के चयन में उन्हें कहीं भी खानापूर्ति पसंद नहीं है|

शब्द के दृष्टिकोण से कथा साहित्य से अधिक लेखक ने काव्य पर अधिक बल दिया है| उनके अनुसार कवि भाषा नहीं लिखता, वह शब्द लिखता है, कविता भाषा में नहीं शब्दों में होती है| बहुत ही सधे हुए शब्दों का प्रयोग करते है, कहीं भी शब्दों के प्रति अनवधान उनके काव्य में नहीं दिखता है, उनकी एक कविता की उपरोक्त व्यक्तव्य को पूरी तरह से चरितार्थ करती है –

"मौन भी अभिव्यंजना है
जितना तुम्हारा सच है
उतना ही कहो|"

इसी प्रकार लेखक की मूलतः सभी कविताओं में शब्दों के प्रति सजगता को देखा जा सकता है;

[1] सं.कृष्णदत्त पालीवाल, *अज्ञेय रचनावली,खंड-9, (डायरी-अन्तःप्रक्रियाएं)*, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 2012, पृ.111

"उड़ गयी चिड़िया

काँपी, फिर

थिर

हो गयी पत्ती।"

ऐसी ही एक कविता और-

"एक सहमा हुआ सन्नाटा

और दर्द

और दर्द

और दर्द "

कम शब्दों में भावों की इतनी प्रभावशाली अभिव्यक्ति लेखक की विशिष्टता रही है| इस संबंध में रामस्वरुप चतुर्वेदी ने लिखा है –"इस दोहरे मौन ने उनकी कविता को एक असाधारण शक्ति दी है। इस 'मौन' में निष्क्रियता नहीं है, तनाव है जो सर्जनात्मकता का मूल उत्स है- जैसे अहिंसा कायरों की नहीं होती, सक्षम की होती है, उसी प्रकार मौन भी सहनशक्ति का प्रतीक है, असामर्थ्य का नहीं|"[1]

बोलचाल में भी अज्ञेय शब्दों के व्यवहार में सचेत रहे हैं, चाहे कैसी भी स्थिति रही हो शब्दों के प्रति जागरुक रहें| बीमारी में भी शब्दों के चुनाव में डॉ से बहस अज्ञेय ही कर सकते हैं| उनके शब्दों में-

"दर्द कैसा है?"

मैं कहता हूँ, "बहुत है|"

[1] रामस्वरुप चतुर्वेदी, *अज्ञेय और आधुनिक रचना की समस्या,* भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण, पृ.64

"इज इट इन्टोलरेबल?"

मैं फिर कहता हूँ, इट इस सीवियर| (तीख़ा है)"

वह जिद करते हैं: "इज इट इंटालरेबल ?"

नशे की झील में मुझे लगता है, वह व्यर्थ का सवाल पूछ रहे हैं- अर्थहीन सवाल| मैं चिढ-सा कर उत्तर देता हूँ : "कहा तो डॉक्टर, कि सीवियर है| इन्टोलरेबल का मतलब है कि या तो मैं चीखूं-चिल्लाऊं, या फिर बेहोश हो जाऊं|.....

बाद में बताया गया, डॉक्टर कह रहे थे "अजीब पेशेंट है| दिल के दौरे में और मार्फिया के नशे लफ्जों पर बहस करता है|"[1]इस पर लेखक उत्तर देते हुए कहते हैं-"क्यों न करूँ? इंटोलरेबल्: यानी जो सहा न जाय| सह तो रहा हूँ-भाषा के साथ आप का अन्याय भी तो सह ही रहा हूँ!"[2]

अर्थात मरणासन्न अवस्था में भी लेखक को शब्दों का गलत प्रयोग स्वीकार्य नहीं था| इसी क्रम में अपने इन अंतःप्रक्रियाओं में मध्यवर्गीय समाज पर अंग्रेजी भाषा के प्रभाव से लक्षित किया है-" हमारे मध्यवर्ग की प्रतिभा मर गयी, सचमुच बिलकुल मर गयी है| शायद उस वर्ग के लेखक की भी| या कि अंग्रेजी घुन सबको खा गया है|"[3] यहाँ लेखक ने अंग्रेजी के बढ़ते प्रभाव को दिखाया है किस प्रकार अंग्रेजी भाषा के प्रभाव में मध्यवर्गीय समाज अपने मातृभाषा को भूलते जा रहे थे| मातृभाषा को अस्मिता से जोड़ते हुए लेखक लिखते हैं-"न हम अपनी भाषा दूसरे से सीख सकते हैं; न दूसरों की भाषा में हम अपने को पहचान सकते हैं| अपनी भाषा सीख और अपने को पहचानकर फिर हमें दूसरों की भाषाएं भी सीखनी चाहिए, उनका ज्ञान भी ग्रहण करना चाहिए|"[4]

---

[1]सं.कृष्णदत्त पालीवाल, *अज्ञेय रचनावली,खंड-9, (डायरी-अन्तःप्रक्रियाएं)*, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 2012, पृ.66

[2] वही, पृ.66

[3] वही, पृ. 69

[4] वही, पृ. 70

इसी क्रम में लेखक ने काव्य के बदलते स्वरूप, काव्यगत भावानुभूति तथा वास्तविक जीवन की भावानुभूति में अंतर, कविता का वास्तविकता से संबंधित पर अपना विचार व्यक्त किया है| काव्य के स्वरूप के बदलने का कारण कविता को नए छंदशास्त्र के मिलने से उसके स्वरूप में बदलाव आया है-"नए छंद ने उस वस्तु को भी प्रभावित किया जो उस छंद में निबद्ध थी: वस्तु और रूप के अभिन्न सम्बन्ध का पूरा आशय यही है कि दोनों पक्ष दोनों को बदलते और अपने अनुकूल ढालते हैं|"[1] लेखक के अनुसार छंद ही शब्दों को मूर्त करता है और उन्होंने छंद को काव्य भाषा की आंख कहा है, अतः स्वाभाविक है कि नए छंदों के आगमन से कविता के स्वरूप में परिवर्तन होगा |

अज्ञेय जीवन भर संस्कृति पर विचार करते रहे, विलुप्त होती संस्कृति पर बार-बार व्हिन्तन मनन करते रहे| लेखक के अनुसार संस्कृति जीवित रहे इसके लिए सेन्स ऑफ़ डेस्टिनी अर्थात नियति बोध होना चाहिए, जो अब हममें नहीं रहा| यह गाँधी और नेहरु तक के समय तक थी पर अब नहीं रही| "संस्कृति जीवित हो, इसके लिए उसमें एक सजा नियति-बोध-सेंस ऑफ़ डेस्टिनी-होनी चाहिए| वही आज हममें नहीं है| गाँधी के समय तक वह था.....सारा देश एक टुक्कड़खोर जिन्दगी जी रहा है-क्या राजनीति में, क्या संस्कृति में, क्या शिक्षा में, क्या धर्म में.....हाथ अगर टुक्कड़ मुंह तक पहुंचाने व्यस्त नहीं है, तो टुक्कड़ की भीख मांगने के लिए पसरा हुआ है| खाने की भीख, विचारों की भीख, कल्पना की भीख, आत्मविश्वास की भीख....ऐसे में सृजनशीलता कैसी जब पुंस्त्व ही नहीं है? नियतिबोध होगा तभी आत्म विश्वास होगा तभी सृजन की सम्भावना|"[2]

संस्कृति के प्रति उनका चिंतन उनके तमाम कृति में उपलब्ध रहा है चाहे कविता हो या निबंध या यात्रा वृतांत, संस्मरण| अपने हरेक कृति में लेखक संस्कृति को जीवित रखने हेतु बार-बार विचार मंथन करते रहे हैं| इन्हीं अन्तःप्रक्रियाओं का

---

[1] वही, पृ. 102

[2] वही, पृ.72 एक अन्य स्थान पर वे पुनः लिखते हैं-"भारतीय संस्कृति आज वैसे ही किसी बिंदु पर पहुँच गयी हैं? उसने अपनी सर्जनशीलता मनो खो दी है; उसके अस्तित्व का हेतु क्या रहा यह पहचानने की अंतर्दृष्टि जैसे उसके पास नहीं है| अपने जीने का भी खोजने के लिए वह पराया मुंह जो रही है|"

विस्तृत तथा सधा हुआ रूप निबंधों में इनके मिलता है| अपने निबंध 'धार और किनारे' में संस्कृति को सजीव रखने के संदर्भ में लेखक कहते हैं जहाँ कहीं भी हम संस्कृति जीवित रखने व बचाने हेतु प्रयास करते हैं, वहां केवल हम दुर्गों, प्राचीन महलों, मंदिरों को संरक्षित बचने की कोशिश करते हैं उनका संरक्षण करते हैं| हमारा ध्यान तत्कालीन समय के जन जीवन, रहन सहन की ओर कतई नहीं जाता| जबकि वे भी संस्कृति का एक अहम हिस्सा है| संस्कृति केवल अभिजात्य वर्ग से ही संबंधित नहीं है वह निम्न व माध्यम वर्ग से भी उतना ही संबंधित है| ".....केवल हम उन्हीं स्थापत्यों की चर्चा करते हैं या लोगों का ध्यान केवल प्राचीन महलों, मंदिरों, दुर्गों की ओर जाता हैं| हमारा ध्यान उस समान जन-जीवन की ओर नहीं जाता कि वे पहले कैसे रहते थे उनका रहन-सहन कैसा था| किस प्रकार के घरों में रहते थे| हमनें तो उन दुर्गों और मंदिरों को बचा लिया है पर प्राचीन समय में साधारण व्यक्तियों के घरों, इत्यादि के अवशेष नहीं रह गए हैं| जिसकी हम नक़ल कर सकें| अब केवल विदेशी निर्माण पद्धतियों पर आधारित इमारत दिखती है| इस तथाकथित आधुनिक भारतीय संस्कृति में भारतीय कुछ नहीं बचा है; संस्कृति भी लगभग नहीं बची; आधुनिक कितना है यह बिलकुल संदिग्ध है|"[1] पिछले अध्याय 'अज्ञेय के निबंध साहित्य का आलोचनात्मक अध्ययन' में लेखक के सांस्कृतिक संबंधी दृष्टिकोण पर और भी विस्तार से विचार किया गया है| पिछले अध्याय 'अज्ञेय के निबंध साहित्य का आलोचनात्मक अध्ययन' में ही लेखक के सांस्कृतिक संबंधी दृष्टिकोण और भी विस्तृत रूप से उभरे हैं

साथ ही उन्होंने आस्था और विद्रोह दोनों को स्वाधीनता का आयाम माना हैं और दोनों को स्वीकार करते है: "यह कहने कि लिए कि हम परम्परा से मुक्त हैं, भाषा का उपयोग करना कितनी बड़ी विडम्बना है। भाषा हमारी सबसे पुरानी, सबसे कड़ी, अनुल्लंध्य सांस्कृतिक रूढ़ि है: अपने दावे के लिए उसका सहारा लेना – और दावे के

[1] अज्ञेय, *धार और किनारे*, सरस्वती विहार, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1982, पृ.46

लिए भाषा का सहारा अनिवार्य है।"[1] इस संदर्भ में श्री निर्मल वर्मा का विचार उल्लेखनीय है: "मेरे विचार में समकालीन भारतीय लेखन की 'आधुनिकता' की यह सबसे प्रामणिक कसौटी है कि परम्परा से विगलित हो जाने के बावजूद – स्वयं आधुनिक उपकरणों पर वह कितनी गहरी चोट कर सकता है, स्वयं चोट खाकर कैसे अपनी प्रतिक्रिया प्रकट कर सकता है। अज्ञेय चोट खाकर परम्परा की तरफ नहीं मुड़ते, न किसी भविष्यवादी दर्शन की ओर। वह अपनी तरफ मुड़ते हैं, जहाँ वह स्वतन्त्र रूप से अपनी परम्परा से जुड़ सकते हैं, अपने भविष्य को चुन सकते हैं। आलोचकों ने जिसे अज्ञेय का 'अहं' माना है, वह वास्तव में लेखक का कवच है, सिर्फ अपने को सुरक्षित रखने का यन्त्र नहीं, बल्कि उन मूल्यों को बचाने का साधन भी, जो नष्ट किया जा रहा है|"[2]

लेखक मिथक के महत्ता पर प्रकाश डालते हुए उसे ऐतिहासिक अर्थवत्ता से जोड़ते हैं| लेखक के अनुसार दिक् काल रूपी रेत जब मुट्ठी से फिसलने लगता है तब उसे पकड़ने के लिए एक प्रकार की दूरी बनाने की अवश्यकता होती है, वह दूरी हमें मिथक से प्राप्त होती है| काल को मिथकीय आयाम मानते हुए कहते हैं-"हम काल में जीते हैं जिसका मिथक एक आयाम है-या यों कहें कि हम जो 'जीवन' 'जीते' हैं काल उसका एक मिथकीय आयाम हैं|"[3]

इसी क्रम में लेखक के काल सम्बन्धी दृष्टिकोण हमारे सामने उभरकर आते हैं| जिसमें लेखक ने बहुत ही सहज रूप से डमरू के माध्यम से काल सम्बन्धी धारणा को स्पष्ट किया है| लेखक ने डमरू के मध्य कटी को चेतन क्षण अर्थात वर्तमान, एक सिरा स्मृति अर्थात अतीत और दूसरा सिरा आकांक्षा व भविष्य माना है और मध्य की ये कटी अर्थात वर्तमान द्वारा भविष्य तथा अतीत का संचालन होता है-" काल का डमरू

---

[1] सं.कृष्णदत्त पालीवाल, *अज्ञेय रचनावली,खंड-9, (डायरी-अन्तःप्रक्रियाएं)*, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 2012, पृ.67

[2] निर्मल वर्मा, *कला का जोखिम*, राजकमल प्रकशन, नई दिल्ली, तीसरा संस्करण,2001,पृ.105

[3] सं.कृष्णदत्त पालीवाल, *अज्ञेय रचनावली,खंड-9, (डायरी-अन्तःप्रक्रियाएं)*, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 2012, पृ.130

मध्य: इधर स्मृति, उधर आकांक्षा, बीच में यह चेतन क्षण....|"[1] सामान्यतः लोगो के मध्य यह धारणा रही है कि वर्त्तमान हमारे नियंत्रण में हैं, हम उसे जैसा चाहे वैसा बना सकते हैं, इस पर लेखक कहते हैं – वर्तमान ही हमारे चंगुल से बाहर है, और अतीत-भविष्य दोनों को हम अनुक्षण बदलते हैं! बल्कि अतीत और भविष्य की कोई स्वाधीन सत्ता नहीं है: ....जबकि वर्त्तमान-वह हममें नहीं, हम उसमें है: वही हमें बना, बदल, जी रहा है, हम उसे नहीं|"[2]

सर्वविदित तथ्य है अज्ञेय को प्रकृति से लगाव रहा है, जिसके कारण उन्होंने कई यात्राएं की, अधिकांश रचनाओं में उनके यायावरी वृति की स्पष्ट छाप है| प्रस्तुत कृति में भी जगह-जगह लेखक की यायावरी व्यक्तित्व का भी परिचय मिला है, अपने कई अन्तः प्रक्रियाओं के माध्यम से उन्होंने स्थान विशेष के प्रकृति तथा संस्कृतियों का वर्णन किया है| लेखक के प्रकृति के प्रति गहरे लगाव का पता निम्न पंक्ति से लगाया जा सकता है जब वे कहते हैं- "मैं सागर तट पर नदी-सेवित पर्वतीय उपत्यका में रहना चाहता हूँ.....लेकिन ऐसी जगह रहना चाहता हूँ वैसी कभी मिली कहाँ है? बारी-बारी पर्वत, सागर, नदी और मरु के पास रहा हूँ ..."[3] वहीं दूसरी ओर कहते हैं हैं-"समुद्र मुझे अच्छा लगता है- बहुत अच्छा लगता है| कभी कभी देश के भूगोल से इसी को लेकर शिकायत होती है कि हमारे पास अधिक लम्बा, अधिक सुन्दर अधिक वैविध्य-भरा सागर तट क्यों न हुआ.....पहाड़ भी मुझे अच्छा लगते हैं| कभी जब फुरसत में कहीं बसने का दिवास्वप्न देखता हूँ, तो सोचता हूँ कि सागर-तट पर रहूँ जहाँ घंटों सागर की हलचल देखता रह सकूं –फिर एकाएक सोचता हूँ कि तब क्या पहाड़ तो कभी नहीं छोड़ सकता- पहाड़ ही पर रहूँगा , समुद्र पर जब तब चला

[1] वही, पृ.148 काल के विषय में लेखक ने अपने निबंधों में भी चर्चा की है वे अपने निबंध 'काल का डमरूनाद' में कहते हैः "काल एक सुंदर आरम्भ बिंदु से आरम्भ करके एक अंत तक नहीं जाता; वह वर्त्तमान की चेतना से आरम्भ होता है- वर्त्तमान के अद्यतन क्षण से; और उसकी गति दोनों ओर हो सकती है-अतीत की ओर अथवा भविष्य की ओर| फलतः काल के सभी क्षण सर्वदा वर्त्तमान हैं; सहकालिक हैं;" अर्थात लेखक ने वर्तमान को अतीत और भविष्य दोनों की ओर अग्रसर पाया है|

[2] वही 147

[3] वही, पृ.159

जाया करूँगा|"[1] लेखक जीवन भर प्रकृति की गोद में रहना चाहते थे शायद यही कारण जीवन पर्यंत यात्रा करते रहे| अज्ञेय के प्रकृति लगाव के संदर्भ में निर्मल वर्मा कहते हैं- 'अज्ञेय' का प्रकृति-बोध इस दृष्टि से छायावादी बोध से बहुत अलग है – वह पहाड़ों को देखकर मुग्ध होते हैं तो नीचे जंगलों में पेड़ों के कटने का आर्तनाद भी सुनते हैं, बल्कि यूँ कहें, यह 'कटने' का बोध उन्हें प्रकृति के लगाव में 'एंगुइश' एक गहरी दरार अंकित कर जाता है|"[2]

कुछेक कविताओं के माध्यम से लेखक ने अपने विदेश यात्राओं का वर्णन करते हुए वहां के परिस्थिति यों पर व्यंग्यात्मक प्रहार करते हैं-

अब की बार बदला हुआ न्यूयार्क था

हिप्पियों से पटा हुआ सेंट्रल पार्क था

गांजा था, एसिड था

कॉप मगर प्लैसिड था

जैज़ के रागों पर रैविशंकर का मार्क था|

वहीं दूसरी तरफ सेनफ्रांसिस्को के सामाजिक परिस्थिति को चित्रांकन करते हुए कहते हैं-

पश्चिम का भी पश्चिम है शहर सांफ्रांसिस्को

झूमते ही देखा वहां देखा जिस्तिसको

कार में, ज्योनार में

सुपर बाजार में

---

[1] वही, पृ.139

[2] निर्मल वर्मा, *कला का जोखिम*, राजकमल प्रकशन, नई दिल्ली, तीसरा संस्करण,2001,पृ.105

लौंडे को, मिस्को, पियक्कड़-पुलिस्को|

इस प्रकार लेखक ने हलके-फुल्के कविताओं के माध्यम से स्थान विशेष की विशेषताओं का प्रतिपादन किया है| आगे उन्होंने मानव पर यन्त्र के प्रभाव को दर्शाते हुए कहते हैं किस प्रकार यन्त्र ने अहंता में स्फीति की है तथा यन्त्र ने अंगों को बेकार कर रही है –"मोटर हमारी टांगों का विस्तार है, इसलिए मोटर के आते ही हमारी टाँगे बेकार होने लगती है, माइक के आते ही स्वर क्षीण होने लगता है| छपी के आते ही हमारी लिखावट बिगड़ती है, जैसे कि लिपि के अविष्कार के साथ स्मृति दुर्बल होती गयी थी|"[1]

इसके अतरिक्त लेखक आधुनिकीकरण पर लिखते हैं- "प्राचीन काल में लोग एक ताल पर देवताओं का स्तव-गान करते थे| मध्यकाल में उन्हें सिखाया गया कि एक ही ताल पर त्राहि माम्! पुकारें| और आज ? आज वे सिनेमाघरों में बैठे एक ताल पर चुइंग-गम चबाते हैं![2]" उपरोक्त पंक्तियों के माध्यम से दैनंदिन बदले रहे समाज पर आधुनिकता के प्रभाव को इंगित किया गया है|

इसके अतिरिक्त लेखक ने नैतिकता, मूल्यों के अवमूल्यन, प्रतीक के मूल में मिथक, लेखक का समाज के प्रति उत्तरदायित्व, अध्यापक की भूमिका आदि क्षेत्रों को अपने अन्तःप्रक्रियाओं का विषय बनाया है| कुल मिलकर 'भवंती' में उन अन्तःप्रक्रियाओं को संकलित किया है, जिसने लेखक बहुत गहरे तक प्रभावित किया हैं| साहित्य सृजन के पीछे जो अन्तःप्रक्रियाएं लेखक को बार-बार प्रेरित करती है, उन्मथित करती है, उसी का संकलित रूप यह भवन्ति है|

4.3.2 अंतरा

'अन्तरा' का प्रकाशन सन् 1975 में हुआ| लेखक ने पहले इस पुस्तक का नाम 'किमिदं यक्ष' रखने की रखने की सोची, चूँकि पहला संकलन 'भवन्ति' के नाम से प्रकाशित हो

[1] सं.कृष्णदत्त पालीवाल, *अज्ञेय रचनावली,खंड-9, (डायरी-अन्तःप्रक्रियाएं)*, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 2012, पृ.121
[2] वही, पृ.131

चुका था, इसलिए 'किमिदं यक्ष' नाम यहाँ उपयुक्त नहीं ठहर रहा था| बाद में लेखक ने भवंती से मिलता जुलता नाम 'विंदंती' सोचा| अंत में 'विंदंती' को बदलकर नाम 'अंतरा' दिया गया| इस सम्बन्ध में लेखक लिखते हैं-"विंदंती जो 'विचिंवंती' से दूर भी नहीं था और 'भवंती' के साथ रूप-साम्य के कारण जुड़ता था, और 'अंतरा' जो कदाचित ऐसी 'माझे-माझे' लिखी गयी चीज़ों के लिए अधिक सार्थक है| दोनों ही 'विकल्प' मेरे प्रस्तावित थे; प्रकाशक को पाण्डुलिपि देते समय 'विंदंती' नाम ही दिया था पर सोचता हूँ कि अच्छा ही हुआ उन्होंने फिर अंतरा पर विचार करने को कहा|" [1]

'भवंती' में जहाँ लेखक का काव्य, छंद, प्रकृति, भाषा, शब्दों के चयन, प्रतीक तथा परंपरा के मूल में मिथक जैसे विषय मुखर हुए हैं वहीं 'अन्तरा' में आजादी के बाद मोहभंग, तत्कालीन प्रशासनिक स्थिति, सत्ता के दोहरे चेहरे, लोकतंत्र, राजनीतिक-समाजिक स्थिति जैसे विषय अधिक मुखर हुए हैं|

अज्ञेय निरंतर स्वाधीनता पर चिंतन करते रहें| लेखक ने मानव के दो आयाम बताए हैं पहला आयाम अमर आस्था का है, तो दूसरा आयाम विद्रोह का है| परन्तु लेखक ने दोनों को 'स्वाधीनता का आयाम' बताया है| "मानव का एक आयाम अमर आस्था का है तो एक विद्रोह का भी है| दोनों ही 'स्वाधीनता के आयाम' हैं: "जैसे विद्रोह मेरी असमर्थता में बद्धमूल नहीं है, वैसे ही मेरी आस्था भी मेरी अक्षमता में बद्धमूल नहीं – दोनों मेरे स्वाधीन कर्म है|"[2] इस स्वाधीनता की खोज में ये दोनों आयाम स्वाधीन कर्म नहीं बल्कि दो दिशाएं हैं परन्तु प्रतिकूल नहीं है|

इसी क्रम में लेखक व्यक्ति स्वातंत्र्य पर जोर देते हुए कहते हैं कहने को तो ऐसे स्वतन्त्र राष्ट्र हो सकते है जहाँ व्यक्ति स्वातंत्र्य की नकार है पर ऐसे स्वतन्त्र समाज की कल्पना नहीं की जा सकती जहाँ व्यक्ति स्वातंत्र्य एक अपरिहार्य मूल्य नहीं है|

---

[1] वही, पृ. 169

[2] वही, पृ.171

अज्ञेय ने स्वाधीनता को अपरिहार्य मूल्य के रूप में स्वीकार किया था, चाहे वह स्वाधीनता व्यक्ति स्वाधीनता हो या सामाजिक स्वाधीनता| उन्होंने एक पराधीन भारत से लेकर अंग्रेजों से आजाद होते भारत को देखा था, भोगा था और यही वजह थी कि स्वाधीनता के मूल्य से से भली भांति परिचित थे| उनके अन्दर एक गहरा क्षोभ था तत्कालीन परिस्थिति के प्रति| देश तो अंग्रेजों से आजाद हो चुका था परन्तु आजादी की प्रक्रिया अभी भी अधूरी थी| लोकतंत्र केवल नाम की थी| उनके शब्दों में-"इसमें संदेह नहीं कि अंग्रेजों से देश आजाद हो जाने पर भी सामाजिक आजादी की प्रक्रिया अधूरी है..."[1]

वहीं दूसरी ओर लोकतंत्र के संदर्भ में कहते है

"Democracy by Ordinance"[2] अर्थात अध्यादेश द्वारा लोकतंत्र, लेखक बार बार सोचते हैं, बार-बार यह सवाल करते हैं यह कैसे संभव है कि सारी जनता या अधिकांश जनता एक साथ आराजकता की चाह रखती हो? चलो एक बार यह मान भी लूं, तो क्या आपने देखा है यह उस हद तक लोकतंत्र को प्रभावित करता है कि अध्यादेश के द्वारा इसे लागू किया जाए| जैसा कि लोकतंत्र इस विचार पर आधारित है कि मानव समाज प्राकृतिक रूप से व्यवस्थित है और प्रत्येक व्यक्ति एक सुव्यवस्थित समुदाय में रहना चाहता है|

या यह केवल इसलिए है कि जनता के विचार आपके विचार से भिन्न है जिसमें आप इन सबको नीचे कर इन पर शासन् करना चाहते हैं| उनके शब्दों में –"How can whole people want chaos? Or even the great majority of people? And if they can, do you see that that knocks the bottom off your Democracy? Democracy rests on the premise than human society

[1] वही, पृ.228

[2] वही, पृ.249

is naturally orderly, that men want to live in well-orderly, that men want to live in well-ordered communities. Or is it only that the people's sense of order is different from yours, in which the people form a pyramid for you to sit on top of?"[1]

उपरोक्त अन्तःप्रक्रियाएं लेखक के व्यक्ति स्वातंत्र्य से लेकर लोकतंत्र तक की चिंताओं को व्यक्त करती है| समकालीन परिस्थिति से लेखक के मन में एक प्रकार का क्षोभ, मोहभंग की स्थिति है, इसलिए वे बार-बार स्वाधीनता के प्रश्न से जूझते रहे हैं, स्वयं से प्रश्न करते रहें| आगे इसी क्रम में लेखक ने समकालीन स्थिति का वर्णन करते हुए किसी सूखे से ग्रसित परिस्थिति को बड़े ही भाव पूर्ण माध्यम से प्रस्तुत किया है| चूँकि लेखक ने एक दो स्थानों को छोड़कर किसी भी स्थान पर देश-काल का ब्यौरा नहीं दिया है, इस कारण कहीं भी यह पता नहीं चलता लेखक ये अन्तःप्रक्रियाएं किस समय और किस स्थान से संबंधित है| इसलिए यहाँ भी पता नहीं चलता लेखक किस अकाल की बात कर रहे हैं| प्रस्तुत रचना में जगह-जगह लेखक सूखे और अकाल की बहुत ही मार्मिक स्थिति को वर्णन करते हैं, वहीं दूसरी ओर सरकार पर व्यंग्यात्मक प्रहार भी करते हुए लिखते हैं- "मंहगाई और अकाल ने मनुष्य को वानस्पतिक जीवन के स्तर पर ला दिया है और वह भी मरु-प्रदेशीय वनस्पतियों के स्तर पर.....एक बूंद नमी और स्वचालित प्रतिक्रिया से एक फ़ीकी सन् सनी उनके भीतर दौड़ जाएगी, एक और दिन का सूखा और उनके लोम-केशर फिर मुरझाकर गिर जाएंगे.....सरकारी बयान ठीक ही कहते हैं 'भूख से कोई नहीं मरता': भूख एक बोध का नाम है और ये मानव वनस्पति जहाँ हैं वहां मृत्यु के आने से पहले वह बोध कब का जा चूका था|"[2] एक प्रक्रिया में लेखक ने कविता के माध्यम से सूखे से बर्बाद हुए फसल के कारण कृषकों की स्थिति को दर्शाया है तथा दूसरी ओर तत्कालीन जन कवि पर वयंग्य करते हुए कहते हैं-

---

[1] वही, पृ.249

[2] वही, पृ.178

वे पेट पीट रहे हैं

तुम गोटें पीट रहे हो

वे कंद-मूल खोद रहे हैं

तुम भाषा की जड़े खोद रहे हो!

उनकी घुटन में राम को पुकारा जाता है

और तुम्हारी घुटन में

राम को, हुक्काम को, इस-उस तमाम को

कागजी दंगल में पछाड़ा जाता है|

उनका हुलास

तुम्हारे फिर-फिर भरते प्यालों के साथ ऊब गया है|

उनका दुःख? वे छिपा सकते तो छिपा जाते

पर वह उनके चेहरे की झुर्रियों में अंका हुआ है|

तुम्हारा दुःख? तुम छपा सको तो छपा लोगे ,

यों भी वह तुम्हारे आस्तीन पर टंका हुआ है|

वे जन हैं –जो अपने को नागरिक तक नहीं जानते,

तुम नागरिक, नागर, जो अपने को जनकवि ही मानते| [1]

यहाँ लेखक ने तत्कालीन परिस्थितियों के प्रति जनकवियों का कोई रुझान न रहने पर व्यंग्य करते हुए लिखा हैं जनता भूख से मर रही है वहीं दूसरी ओर हमारे जनकवि

[1] वही, पृ.200

भाषा पर बहस कर रहे हैं, जन कवियों पर टिप्पणी करते हुए कहते हैं कहने को वे जनता के कवि हैं पर अपने ही नागरिकों के स्थिति से वाकिफ नहीं है अर्थात उन जनकवियों के प्रति एक प्रकार का सवाल है कि स्वयं को जनकवि कहने वाले ये कवि कैसे अपनी ही जनता के दुःख-दर्द, गरीबी से अपरिचित हैं, हजारों कृषकों की स्थिति इतनी दयनीय है वहां आप भाषा के जड़े खोद रहे हैं| आजादी के बाद मोहभंग होने पर लेखक फूट-फूट कर बोलते हैं-मिला बहुत कुछ: सब बेपेंदी का|...आजादी मिली – उसकी नींव आत्म गौरव नहीं मिला| राष्ट्रीयता मिली –उसकी नींव अपनी पहचान नहीं मिली| यानी आजादी में जन्मे पले मुझको-आजादी के आदि पुरुष को चेहरा मिला, व्यक्तित्व नहीं मिला| और बिना व्यक्तित्व के चेहरा क्या होता? पहन लो, उतार लो|"[1]

वहीं दूसरी ओर लेखकों की आजादी के संदर्भ में सरकारी हस्तक्षेप की बात करते हुए कहते हैं किस प्रकार लेखकों की आजादी का अपहरण किया जा रहा है-"लेखक है? आजाद है? मारो स्साले ...को| पिटाई से न सधे तो बदनाम करो; संखिया-धतुरा कुछ खिला दो, पागलखाने में डाल दो| ये सब भी बेकार हो जाएं तो शाल-दुशाला, पद-पुरस्कारों से लादकर कुचल दो-वह तो ब्रह्मास्त्र है|"[2] प्रस्तुत पंक्ति में रचनाकार अपने समय के लेखकों की समाज में स्थिति अपनी चिंता व्यक्त करते हैं, विशेषकर उन लेखकों की जो अपने सत्ता के नियंत्रण में नहीं हैं, वे कहते हैं हमेशा लेखकों की आजादी छीना जाता रहा है, उसपर लगाम लगाने की कोशिश की जाती रही है, तरह-तरह के हथकंडे अपनाए जाते रहे हैं, कई तरह से लेखकों को पहले तो डराया-धमकाया जाता है, जब इससे भी बात नहीं बनती है तो तरह-तरह के पुरस्कारों को देने के माध्यम से बरगलाने की कोशिश की जाती है|

कहीं-कहीं लेखक सरकार पर व्यंग्य करते हुए कहते हैं-

---

[1] वही,पृ.215

[2] वही,पृ.210

“अक्ल बड़ी कि भैंस?

-यह तो इस पर है कि अक्ल किसकी, और भैंस किस गद्दी पर|

-अगर अक्ल भारतीय इंटेलेक्चुअल की और भैंस सरकार की तो, निःसंदेह भैंस बड़ी है| बल्कि इंटेलेक्चुअल तो भैस को पूजने को भी तैयार होगा|”[1] उपरोक्त पंक्तियों में लेखक का सरकार के प्रति, तत्कालीन परिस्थितयों के प्रति बहुत ही तीव्र विरोध फूटा हैं| पुस्तक में सर्वत्र प्रशासन, सरकार व सत्ता के प्रति गहरा क्षोभ व असंतोष का भाव दिखता है, जो कि पिछले अन्तःप्रक्रिया ‘भवंती’ में इतने मुखर रूप से प्रस्तुत नहीं हुआ था| लेखक स्वयं कहते हैं-“ अंतरा’ में ऐसे स्थल भी हैं जहाँ व्यंग्य में तीव्र आक्रोश भी है; पर वहां भी मेरा वार, अधर्म नहीं है- बल्कि अधर्म-युद्ध के विरोध में ही है ? मैं चाहता हूँ पाठक इसे पहचाने| जिस देश-काल में मैं रह रहा हूँ –उसमें झूठ की ताकत दिन पर दिन बढती है और फैलती जा रही है; इस सुरक्षा के समक्ष ‘तासु दून’ रूप दिखा सकने वाला महावीर मैं नहीं हूँ, पर उसकी शायद जरूरत भी नहीं है; फूले हुए गुब्बारे को तीखे सूए से भोंक देना भी यथेष्ट होना चाहिए| और वाक् की साधना करनेवाला अपव्ययी नहीं हो सकता-बल्कि वह वह तो मौन को भी सार्थक-कर्म बनाना चाहता है|”[2]

इसके अतिरिक्त भाषा, संस्कृति, धर्म, नैतिक मूल्य, यथार्थ, काल, काल की प्रतीति इतिहास के रूप में, मिथक जैसे विषय पर विचार किए हैं|

अज्ञेय की खोज उस भाषा की है - “हर भाषा की गंध होती है| अगर धुप के धुएं से गंधयुक्त मेरी साध्य नहीं है; लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि मुझे बाजार की चरपरी या नाली की सड़ी गंधों से गंधाती भाषा की खोज है–या उसके प्रति मेरी स्वीकृति भी है| खुली हवा की भी एक गंध होती है- देहाती हवा की सोंधी, वनखंडी से आते हुए झोके की तीखी महक- और मैं नहीं मानूंगा कि शहर में केवल सीलन और घुटन ही

[1] वही,पृ.211

[2] वही, पृ.170

होती है, जिससे केवल बहुत दिनों की दबी हुई सीलन में गंधाती हुई भाषा ही शहरी यथार्थवाद की भाषा हो सकती है| शहर में भी लकड़ी चीरती है, चीड़-देवदार की लकड़ी जिसकी ताजा चिराई से पेड़ की अस्थि-मज्जा भी दिखा जाती है, और गंध से वातावरण 'मंज' जाता है| ताजा चिरी हुई लकड़ी की गंध जिसमें मिले, ऐसी भाषा...|"[1]

उनके लिए "कवि -भाषा के एक-एक शब्द का हजार वर्ष का संस्कार होता है|"[2] इसमें कोई संदेह नहीं हैं जब लेखक काव्य की भाषा की बात करते हैं तो भाषा से अधिक शब्दों पर जोर देते हैं, शब्दों के बीच उस विराम को महत्त्व देते हैं जो कुछ न कहे भी बहुत ही बातें कह जाती है जो बड़े-बड़े शब्द नहीं कह पाते है| इसी संदर्भ में वे आगे कहते हैं-" कविता शब्द में होती है| विचार भाषा में होता है| 'विचार कविता' के आन्दोलन ने इससे उत्पन्न होने वाली कठिनाई का निराकरण तो दूर, सही ढंग से उसे प्रत्यक्ष भी नहीं किया है| क्योंकि वे विचार आरम्भ करते हैं, इसलिए वे भाषा से आरम्भ करते हैं: विचारों का सम्प्रेषण गद्य में भी हो सकता है, इसलिए अपने विचार को काव्यत्व ओढ़ाने के लिए भाषा को कुछ जोड़ते हैं; भाषा उनके लिए पहले से दी हुई चीज होती है और अंत तक दी हुई चीज बनी रह जाती है| पर कविता जोड़कर नहीं बनती; वह रची जाती है: उसका प्रतिज्ञात या 'गिवन' भाषा नहीं, केवल शब्द है| और कवि शब्द में शब्द नहीं जोड़ता, अर्थ में भी अर्थ नहीं जोड़ता, शब्दों के सान्निध्य मात्र से नए अर्थ रचता है..." [3]

इसी क्रम में लेखक ने मातृभाषा के महत्ता को प्रतिपादित करते हुए कहते हैं – "जिसने अपनी देश-भाषा में अच्छी शिक्षा पायी है, उसके सामने अंग्रेजी आती है तो उससे एक चुनौती मिलती है जो स्फूर्तिप्रद है| शुरू से ही अंग्रेजी शिक्षा देने से एक चुनौती की स्थिति ही नहीं आती; शुरू से ही मानस एक हीन-भाव से आक्रांत हो

---

[1] वही, पृ. 173

[2] वही, पृ. 174

[3] वही, पृ.253-254

जाता है- दासत्व का संस्कार पा लेता है|"[1] उपरोक्त प्रक्रिया में लेखक मातृभाषा में प्राप्त की गई ज्ञान को महत्त्व देते हैं, और उन्हें लगता है कि मातृभाषा में मिला ज्ञान किसी भी चुनौती को स्वीकार करने में सक्षम होता है| अन्य भाषा में मिले ज्ञान से हममें एक हीन भाव की सृष्टि करता है, वह हमारे अंदर दासत्व की भावना का संस्कार करता है| वास्तव में लेखक तत्कालीन समाज में अंग्रजी के बढ़ते प्रभाव तथा मातृभाषा के प्रति नकारत्मक भाव से चिंतित थे| ऐसा नहीं कि लेखक अंग्रेजी भाषा का विरोध करते रहे हैं, बल्कि वे स्वयं कई भाषाओं का ज्ञाता रहे हैं, उनका स्वयं का यह मनना रहा है कि आधुनिक काल में कोई विरला ही भाग्यवान होगा जो कुछ पाया है केवल एक ही भाषा के माध्यम से पाया हो, फिर वह भाषा चाहे देव-भाषा ही क्यों न हो| यहाँ केवल वह यह चाहते थे कि देशी भाषा में शिक्षा को अधिक से अधिक बढ़ावा दिया जाए| जो कि उन्हें भी नहीं मिला, जिसका उन्हें बहुत उनके शब्दों में- "मिला बहुत कुछ: सब बेपेंदी का| शिक्षा मिली; उसकी नींव, भाषा, नहीं मिली|"[2]

हिंदी साहित्य में 'परिमल संस्था' का काफी उल्लेखनीय योगदान रहा है| इस संस्था के अज्ञेय भी सदस्य रहे हैं और इसके माध्यम से साहित्यकारों के स्वतंत्रता हेतु निरंतर संघर्ष करते रहे| लेखक एक स्थान पर अपने अन्तः प्रक्रिया के माध्यम इस संस्था के सदस्य धर्मवीर भारती, विजयदेव नारायण साही, लक्ष्मीकान्त वर्मा, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना और जगदीश गुप्त से चुहलबाजी करते हुए लिखते हैं-

"पांच पूत परिमल बन्नों के करते आत्म प्रचार

मुम्बा देवी एक ले गई बाक़ी रह गए चार-

चार पूत परिमल बन्नों के कविता करें प्रवीन

एक संसोपा में जा बैठा बाक़ी रह गए तीन,

[1] वही, पृ.211

[2] वही, पृ.215

तीन पूत परिमल के सोचें कहीं न जावें खो

एक अलग प्रतिमान जांचने बाक़ी रह गए दो,

दो सपूत परिमल बन्नो के एक-एक से नेक

दिल्ली सेवा फली एक को बाक़ी रह गया एक,

किन्तु कौन वह? कौन बतावै? बाकी रह गया सुन्न![1]

कुछेक स्थानों पर लेखक ने अपने समकालीन कवियों के बारे में प्रत्यक्ष रूप से लिखते हैं, शिवमंगल सिंह सुमन के बारे में कहते है-

“कवि से कुलपति हुए एस.एस.सिंह सुमन---

पीठ को आचार्य मिला, कविता हुई गुम, न?”[2]

उपरोक्त पंक्ति में लेखक ने शिवमंगल सिंह सुमन के कृतित्व के बारे में कहते हैं पीठ आचार्य बनाए जाने पर किस प्रकार उनकी कविता का गुम गयी है| उनके अनुसार उनकी कविता में अब वह बात नहीं रह गयी जो पहले हुआ करती थी|

वहीं दूसरी ओर श्रीकांत वर्मा के बारे लिखते हैं-

दोनों दुनिया देख लौटे श्रीकांत वर्मा

कहीं उन्हें मिला नहीं अपना समानधर्मा

ईश्वर की भी अर्जी पर

बोले वह: तुम मेरी मर्जी पर

चाहो तो मेरे तहत रहो विश्वकर्मा![1]

---

[1] वही, पृ.183

[2] वही, पृ. 239

धर्मवीर भारती पर टिप्पणी करते हुए लिखते हैं, पुरस्कारों के चका चौंध ने उनके कविता के स्तर को गिरा दिया है, उनके शब्दों में-

"एक थे ध. भारती साकिन अतरसुइया,

मौक़े से छू आये बंगला देश की धइया|

पद्मश्री तो पा गये

पर कविता गँवा गये

(या यों ही हेरा गये हो के बम्बइया)"[2]

एक प्रसंग के माध्यम से लेखक ने एक और स्थान पर नामवर सिंह, मोहन राकेश, नेमीचन्द्र जैन का उल्लेख करते हैं| जहाँ तीनों लेखक को अज्ञेय की अध्यक्षता में होने वाले किसी संगोष्ठी में बोलना था परन्तु तीनों लेखकों को इस बात का डर था कि कहीं लेखक उनके व्यक्तव्य को काट न दें, इसीलिए अज्ञेय की अध्यक्षता में नामवर सिंह, नेमिचन्द्र, मोहन राकेश वता के रूप में बोलना नहीं चाहते थे| ज्योंही लेखक को इस बारे में पता चलता है, तो वे बड़े सौहार्द भाव से अध्यक्षता के स्थान पर उद्घाटन तथा विषय प्रवर्तन करने का निर्णय लेते हैं| यहाँ लेखक के एक तरफ सहज स्वभाव का निदर्शन होता है वही दूसरी तरफ हिंदी साहित्य में साहित्य में एक घटिया स्तर की राजनीति का भी परिलक्षण होता है| इस संदर्भ में विश्वनाथ प्रसाद तिवारी कहते हैं- "इनमें अज्ञेय ने कुछ चुहलबाजी और छेड़छाड़ भी की है। अपने समकालीनों पर या अपने समकालीनों की मान्यताओं पर विनोदपूर्ण प्रहार भी किया है। कहीं-कहीं तो नाम लेकर जैसे श्रीकान्त वर्मा, शिवमंगल सिंह 'सुमन' धर्मवीर भारती, उपेन्द्रनाथ अश्क, प्रभाकर माचवे, संजय गांधी या 'परिमल' के सहयोगियों का|"[3] वहीं दूसरी तरफ गोपाल राय इसी सम्बन्ध में कहते हैं- ".....शिवमंगल सिंह

---

[1]. वही, पृ.239

[2] वही,पृ.188

[3] डॉ विश्वनाथ प्रसाद तिवारी (सं.), *अज्ञेय,* नैशनल पब्लिशिंग हाउस,नयी दिल्ली,1994, पृ. 248|

'सुमन' और श्रीकांत वर्मा के विषय में ली गयी चुटकियाँ और नरेश मेहता की भाषा में उड़ाया गया उनकी भाषा का मजाक- सब कुछ इतना निजी है कि 'अज्ञेय' को उनकी सहजता में प्रस्तुत करता है, उनके व्यक्तित्व रूप को उजागर करता है| चोट खाए हुए और चोट करने वाले दोनों व्यक्तियों का अंदाज इनमें है|"[1] अन्तरा' के 'निवेदन' में स्वयं अज्ञेय लिखते हैं- "भवन्ती की भाँति अन्तरा में भी हल्के स्थल भी हैं, चुहलबाजी भी है, छेड़छाड़ भी है, पर संघर्ष-क्षेत्र के ये विज्ञाम ताजा होने के लिए ही है, किसी को - चाहे वह विपक्षी भी क्यों न रहा हो-दु:ख पहुँचाने या अपमानित करने के लिए नहीं है|"[2]

अज्ञेय के लिए कलाकार का अकेलापन बेहद अनिवार्य होता है, क्योंकि उसमें सर्जनशीलता भी है| उनके अनुसार यही अकेलापन उन्हें जोड़ता है, मथता है, राग-विद्ध करता है| अकेले रहने को लेखक ने सृजन का एक पक्ष माना हैं| वे कहते हैं जिस प्रकार कपडे से मेल छुड़ाने के लिए उसे धोने की आवश्यकता होती है उसी प्रकार विचारों को धोने के लिए अकेलापन भी आवश्यक है- " अकेले बैठना, चुप बैठना –इस प्रश्न की चिंता से मुक्त होकर बैठना कि 'क्या सोच रहे हो?' यह भी एक सुख है|

सोचने से ही सब कुछ नहीं होता- न सोचते हुए मन को चुपचाप खुला छोड़ देने से भी कुछ होता है-वह भी सृजन का पक्ष है| कपड़े पहनने ही के लिए नहीं है-उतार कर रखना भी होता है कि धुल सकें|

विचारों का मैल छुड़ाने के लिए मन को धोना है न! क्या यही है 'जस की तस धर दीनी चदरिया'!"[3]

अज्ञेय अमूमन अपने सभी रचनात्मक कृतियों में काल पर विचार करते रहे हैं| काल, मिथक, संस्कृति, साहित्य जैसे विषय सदैव लेखक को उन्मथित करते रहे हैं| काल को वो उस तत्त्व के रूप में स्वीकार करते हैं जो अनुक्षण निर्णय करता है कि इस

---

[1] सं. डॉ गोपाल राय, समीक्षक डॉ आनंदप्रकाश दीक्षित,*समीक्षा*, नई दिल्ली, नवम्बर-दिसंबर, 1976, अंक 7-8, पृ-71

[2] सं.कृष्णदत्त पालीवाल, *अज्ञेय रचनावली,खंड-9, (डायरी-अन्त:प्रक्रियाएं)*, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 2012, पृ.भूमिका

[3] वही, पृ.174

क्षण जो भी संभावनाएं हमारे सामने आई है उनमें से कौन सी एक मात्र अगले क्षण घटित होंगी|[1]

लेखक दौड़ते भागते काल को कभी रोकते हैं, तो कभी टुकड़ों में पकड़ते हैं, जब कभी काल थमा, थिरता है तो लेखक उसे संजोने की कोशिश करने लगते हैं-

काल“

दौड़ता और बहता है

और मैं उसे

रोकता हूँ टुकड़ों में बांटता हूँ ,काटता हूँ ,

तराशता हूँ

गिनता हूँ कभीकभी-

समेटता हूँ

मुट्ठी में भर कर उसके मनके फेरता हूँ |

काल

थमताथिरता और टूटता है ,

और मैं

उसे जोड़ता और मिलाता हूँ ,

लड़ी में बांटता हूँ

फंदे बनाता हूँ दूर तक और-फैलाता हूँ दूर ,

[1] वही, पृ. 175

मन की ही बाहों से घेरता हूँ |

काल और मैं

भाषा और मैं कविता और मैं

हममें सदा रहती है ठनी"|[1]

उपरोक्त अन्तः प्रक्रिया से यह स्पष्ट है लेखक के लिए काल, भाषा, कविता बहुत ही महत्वपूर्ण विषय हैं|

विश्व के कोने-कोने में बिखरे प्रकृति के विभिन्न रूपों का बड़ा ही मनमोहक वर्णन लेखक ने किया हैं, उनका मन केवल हरियाली, पहाड़ियों के प्राकृतिक छटा, असीम, अनंत समुद्र देख कर ही उद्वेलित नहीं होता है, ज्वालामुखी भी उन्हें उतने आकृष्ट करते हैं जैसे कि बाकि सब| जापान यात्रा के दौरान ट्रेन से दिखे फूजियामा ज्वालामुखी का वर्णन करते हुए कहते हैं-

"रुई के गाले में

धरा हुआ

कोयला दिन-भर

राख से ढका रहा

साँझ में सुलने लगा|"[2]

वहीं एक तरफ नारंगीयों से लदे पेड़ों को देखते हुए कहते हैं- "... नारंगियों से लदे पेड़- हर जगमग नारंगी जैसे एक डाल से बंधी मनौती...या उत्सर्ग कर दिया गया सपना?" यहाँ लेखक नारंगियों को कभी मन्नत तो कभी उत्सर्ग कर दिया स्वप्न के रूप में कल्पना करते हैं| इसके अतिरिक्त इस पुस्तक में लेखक की संस्कृति, मिथक,

[1] वही, पृ.257

[2] वही, पृ.205

आधुनिकता, इतिहास सम्बन्धी अन्तःप्रक्रियाएं द्रष्टव्य हैं, जो कि अतुलनीय हैं| इस संदर्भ में कृषणदत्त पालीवाल कहते हैं- 'अन्तरा' की 'अन्तःप्रक्रियाएं' साहित्य के सामाजिकों के लिए बड़ी कीमती चीज हैं| उनमें रचनाकार अज्ञेय का रचनानुभव, रचना-भाषा, रचना-संघर्ष, तनाव, युग की राजनीति, रचना-प्रक्रिया, रचना सम्प्रेषण, रचना-भाषा, शब्द-प्रतीक-मिथक-छन्द सभी का समग्र बोलता मिलता है| मितकथन गद्य-पद्य के कथनों में अज्ञेय का क्लासिकल संयम और संतुलन सीखने की चीज है| अज्ञेय का व्यंग्य सपाट न होकर व्यंजन पर केन्द्रित रहता है| इस गद्य-विधा की वामन डगों में वे बहुत कुछ नाप लेते हैं|"[1]

4.3.3 शाश्वती

अज्ञेय की अन्तःप्रक्रियाओं के संग्रह की तीसरी रचना शाश्वती(1975-79) है| इसका प्रकाशन सन् 1979 में हुआ है| इस अन्तःप्रक्रियाओं में सन् 1975 से सन् 1977 तक आपातकाल की अनुगूँज हैं| इसी क्रम में अज्ञेय के 'भवंती', 'अंतरा' आ चुके थे|

'शाश्वती' के निवेदन में कहा गया है-जिस कारखाने में रचना होती है- उस का भी सहज अवलोकन कर लें अर्थात यहाँ लेखक अपनी अन्तःप्रक्रियाओं को 'रचना का कारखाना' कहते हैं और थोड़े सहमते हुए कहते हैं- 'यहाँ रखे गए विचार अथवा अनुभव अधकचरे नहीं हैं| कारखाने के रूपक से ऐसी संभावना हो सकती है कि यह सब केवल कच्चा माल है अथवा अधूरी बनी या बनते-बनते बिगड़ गयी चीज़े हैं जबकि पाठक के सामने केवल तैयार माल जाना और वह भी पूरी पड़ताल के बाद|"[2] लेखक कहते हैं इसे अन्तःप्रक्रिया कहे जाने से लोगों को एक अधूरापन का आभास हो सकता है| पर ऐसा नही हैं, यह उन यात्रा की झांकियों के परिदृश्यों को प्रस्तुत करती है जो भले ही पूरी न हों, पर स्वयं में स्वायत्त है एवं पूर्ण है- "ये अंन्तः प्रक्रियाएं उनसे समांतर एक यात्रा की झांकियां हैं| झाकियां हैं इसलिए पूरा परिदृश्य वे प्रस्तुत नहीं करतीं; लेकिन झांकियां हैं इसलिए प्रत्येक में एक स्वयत्तता भी है जो उसे स्वतः

[1] वही, पृ.30

[2] वही, पृ.261

सम्पूर्ण बनाती हैं|"[1] इसी संदर्भ में पालीवाल कहते हैं-"जाहिर है कि अज्ञेय के मन का कुम्हार और सुनार 'तप' करने का सकल्प लेकर यह कह रहा है| इसलिए इसमें न अधूरापन है न कच्चापन| बल्कि इस काल के अन्य रचना-कर्म के समान्तर 'एक यात्रा की झाकियां' हैं इसलिए प्रत्येक में एक स्वयत्ता है-यह स्वायत्ता उसे स्वत: पूर्ण बनाती हैं| इन में आंतरिक चिंतन की बैचेनी ने एक एक व्यवस्था की निष्पत्ति की है|" [2]

कुछ विद्वानों ने इन अन्तःप्रक्रियों को बेलेट लेटर्स भी कहा है, "इन्हें अंग्रेजी में 'बेलेट लेटर्स' कहा गया है| यह बहुत कुछ चम्पू जैसी चीज है| फर्क यह है कि चम्पू प्रायः पद्य प्रधान या काव्य प्रधान होता है और यह गद्य- प्रधान है| कविताएँ शाश्वती में भी हैं पर उनकी संख्या थोड़ी है| जो हैं भी वे तुक्तक के वजन से पर रचित हैं और उनमें व्यंग्य और विनोद का भाव अधिक है, या फिर भाषा का एक खिलंदड़ी रूप और ढंग है|" [3]

लगातार पचास वर्षों तक लेखन कार्य करने के बावजूद भी जो बचा रहता हैं- प्रश्न, चिंताएं, संदेह, आस्थाएं, व्याकुलताएं, आनंद और प्रतीति की संभावनाएं –उन सबका संकेत लेकर लेखक पाठक के सम्मुख प्रस्तुत हुए हैं, चूँकि ये केवल संकेत हैं लेखक ने इसलिए स्वीकार किया है कि इनमें एक आरजीपन है; लेकिन इनके साथ जुड़े हुए वे स्थायी सरोकार हैं जो उनके जीवन को जितनी भी उसकी सार्थकता रही, देते रहे हैं|[4]

यथार्थ, सत्य, आपातकाल, समकालीन लेखक, व्यक्ति और समाज, भाषा, मिथक व विम्ब, शब्द, लय, मौन, संस्कृति, प्रकृति, शिक्षा, स्वाधीनता से संबंधित विचार अभिव्यक्त हुए हैं| लेओनार्दो दा विन्ची की उक्ति 'घंटी सुनो: घंटी एक है पर सुनने के हजार तरीके हैं' का हवाला देते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति एक ही वस्तु को अलग-अलग तरह से देखता है, उसी प्रकार यथार्थ भी एक होता है परन्तु प्रत्येक के ग्राहित्त्व के हजार-हजार तरीके होते हैं| यथार्थ को अनुभव से जोड़ते हुए

---

[1] वही, पृ.261

[2] वही, पृ.30

[3] सं. डॉ गोपाल राय, *समीक्षा : अं-15 ,* नई दिल्ली, नवम्बर-दिसंबर, 1976,पृ.-9

[4] सं.कृष्णदत्त पालीवाल, *अज्ञेय रचनावली,खंड-9, (डायरी-अन्तःप्रक्रियाएं)*, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 2012, पृ.262

लेखक लिखते हैं "यथार्थ केवल तब संदिग्ध नहीं होता जब एक अकेले आदमी को एक तरह दीखता हो: 'तब भी संदिग्ध हो जाता है जब सब को एक-सा' दीखने लगे| जब तक साहित्य में (कला मात्र में) 'यथार्थ' अनुभव के साथ बंधा है, तब तक उसे भोक्ता के साथ-साथ अलग-अलग होना ही होगा|" [1]

वहीं दूसरी ओर कहते हैं-

" सम्पूर्ण यथार्थ(वह होता क्या है?)

यथार्थ का टुकड़ा/झांकी आदि

एक व्यक्ति का यथार्थ(चेतन, 'प्रत्यक्ष', आदि)

एक व्यक्ति का यथार्थ(चेतन, 'प्रत्यक्ष' आदि)

एक व्यक्ति का सम्पूर्ण यथार्थ(अवचेतन, स्वप्न, अप्रत्यक्ष सत्ता आदि)

'एक व्यक्ति के सम्पूर्ण यथार्थ का तात्क्षणिक टुकड़ा'(और सम्पूर्ण यथार्थ होता क्या है?)

पर क्या उतने को यथार्थ कहना केवल भाषागत धोखा नहीं है?"[2]

इसी क्रम में लेखक समकालीन राजनीतिक- सामजिक परिस्थितियों से रूबरू कराते हुए उस समय राजनीतिक सत्ताधारियों पर प्रत्यक्ष रूप से प्रहार करते हैं, देश में आपातकाल लगाए जाने पर व्यंग्य करते हुए कहते हैं-

"परिभाषाएं ही उलट दी जा रही हैं| साथ स्वतन्त्राएँ भी रद्द-एक आदेश के बल पर!

एक रानी टुनटुनलो, सात पाखी नाक काटालो!

---

[1] वही, पृ.264

[2] वही, पृ.300, लेखक ने अपने इस पुस्तक में अनेक स्थानों पर यथार्थ की चिंता करते हैं, साहित्य के यथार्थ के सम्बन्ध में कहते हैं- महान रचना का यथार्थ वह है जो जो वह रचना करती है, वह नहीं जो आप समझते हैं| वहीं दूसरी तरफ कहते हैं-सत्य को हम अपने से बाहर, अपने से निरपेक्ष मान सकते हैं, उसे पा चाहे न सकते हों| लेकिन यथार्थ तो वह हो नहीं सकता- उसकी वैसी परिभाषा आत्मविरोध से दूषित होगी| क्योंकि यथार्थ तो अर्थ लागने वाले(अर्थ देने वाले, अर्थ पाने वाले) के साथ बंधा हुआ है|

रानीर पक्खे उकील धाय

पाखीरा सब जेले

एक और स्थान पर आपातकाल की स्थिति उजागर होती है-

“धीरे-से बोले अज्ञेय जी: अगरचे

शुरू मैंने ही किये थे ‘चरखे और चरचे’

आया जो आपात-काल

सूरमा हुए निढ़ाल

समाचार-साप्ताहिक सब हो गए परचे|”[1]

इस संदर्भ में डॉ गोपाल राय लिखते हैं-“साहित्यिक क्षेत्र से बाहर राजनीति के क्षेत्र में भी अज्ञेय अपनी इस मुद्रा के साथ उतरे हैं और साफ़गोई के अंदाज से निडर होकर उतरे हैं| हौलदिली वहां भी नहीं है| यानी एक बार फिर लगता कि अज्ञेय कर्म और चिंतन में कथनी और करनी में दूरी का बर्ताव नहीं करना चाहते| इस क्रम में वे सीधे ढंग पर विचार प्रकट करने में भी नहीं हिचकिचाते और प्रतीकों के माध्यम से भी अपने व्यंग्य को पूरा कर लेते हैं|”[2] इस संदर्भ में एक और उदाहरण दृष्टव्य है-

“मंच पर पधारे युवा नेता संजय गांधी

यारों ने पहले से ही कैसी हवा बांधी|

बोले क्या? बोलने को कह गये

सुनने को चमचे फकत रह गये

क्या है अंग्रेजी मुहावरा? ‘चाय’ की प्याली में आंधी|”

---

[1] वही, पृ.296

[2] सं. डॉ गोपाल राय, *समीक्षा*:*अं-15 ,* नई दिल्ली, नवम्बर-दिसंबर, 1976,पृ 71

इसी प्रकार की सपाट बयानी उनके समकालीन लेखकों के प्रति भी दिखती है| अन्तःप्रक्रियों में एक प्रत्यक्ष रूप से आलोचना करते हैं| 'भवंती' और 'अंतरा' की ही भांति 'शाश्वती' में भी लेखक का आलोचक गुण विद्यमान है| नामवर सिंह, नगेन्द्र, नन्ददुलारे बाजपेयी, नेमिचंद्र जैन के लेखनी के विषय पर टिप्पणी करते हुए कहते हैं ये लेखक समाज में जिस परिवर्तन की बात करते हैं उन परिवर्तनों का सरोकार केवल बाहरी तथ्यों से होता है, मनोजगत के बदलने पर इनका ध्यान नहीं जाता है- "नगेन्द्र-नन्दुलारे से लेकर नामवर सिंह-नेमीचन्द्र तक सभी समाज में परिवर्तन की बात करते हैं: केवल बाहरी तथ्य से सरोकार है| मनोजगत के बदलने की ओर ध्यान देना उन्हें या तो सूझता नहीं, या अनावश्यक जान पड़ता है, या केवल आनुषांगिक लगता है| वे सभी ऐसे भेद करते हैं, ऐसी कोटियाँ बनाते हैं, जो साहित्यिक दृष्टि से यथार्थ हैं, और उन तत्त्वों-कोटियों की उपेक्षा करते हैं जिनका वास्तव में महत्त्व है, जो यथार्थ है|"[1]

दूसरी ओर उपन्यासकार उपेन्द्र नाथ अश्क की चुटकी लेते हुए कहते हैं-

"उपन्यासकार ओपिन्द्रानाथ अश्क

हिन्दी उचार्नों की करते रहे मश्क

घूम आये दूर-दूर

देस लोटे थके चूर

ग़लत, हाय! गल्त रहा बीत गया दश्क!"[2]

प्रभाकर माचवे पर स्पष्ट टिप्पणी करते हुए उनके दिन पर दिन लेखनी के गिरते स्तर तथा उनकी जीहुजूरी की ओर इंगित करते हुए कहते हैं-

मेधावी थे माचवे पर होते गए पोंगा

---

[1] सं.कृष्णदत्त पालीवाल, *अज्ञेय रचनावली,खंड-9, (डायरी-अन्तःप्रक्रियाएं)*, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 2012, पृ. 272

[2] वही,पृ.280

कान से लगाये-लाये अकादमी का चोंगा

सबको मनाते

हाँ में हाँ मिलाते

घिघियाते घिघियाते आखिर रह गए घोंघा|"[1]

इसी क्रम में लेखक ने शमशेर बहादुर सिंह, सुमित्रानंदन पन्त, निराला, रघुपति, सहाय, फ़िराक गोरखपुरी आदि की और बहुत ही कम शब्दों में लखक ने बहुत सटीक बाते की है जिससे उनकी गहन जातीय प्रकृति का बोध स्पष्ट लक्षित होता है|

लेखक का प्रकृति के प्रति अटूट सम्मोहन है| उनके प्रत्येक विधाओं में प्रकृति के विराट संस्पर्श को देखा जा सकता है| लेखक के अनुसार आज आधुनिकता के नाम पर गावों को शहर में तब्दील किया जा रहा है,पहाड़ी इलाके भी इस नगरीकरण के चपेट में आ गए हैं| साल दर साल बढ़ रहे शहरीकरण के नाम पर लगातर पेड़ों को काटे जाने पर अपनी गहन चिंता व्यक्त करते हैं| जंगलों के स्थान पर कंकरीट के जंगल को देख उनका मन व्यथित हो जाता है| कटते पेड़ों पर अपनी चिंता व्यक्त करते हुए कहते हैं-

पेड़ ने कहा, तुम कवि हो न?'

मैंने कहा 'हूँ भी तो क्या?वन प्रकृति का भक्त हूँ,पेड़ों से प्रेम है मुझे'

पेड़ टोककर बोला,'होगा, होगा| तुम पेड़ पर कविता लिखो, यो पेड़ को बचाने के आन्दोलन के लिए ही कविता लिखो, छपेगी तो पेड़ की लुग्दी पर ही| जब-जब कोई लिखता है मैं लम्बी सांस लेता हूँ: ये पेड़ काटने का और एक निमित्त बना..."[2]

इसी क्रम में लेखक धर्म को बन्धनों के मुक्तिकारक, शिक्षा को स्वतंत्र व्यक्तित्व के निर्माता, व्यक्ति स्वतंत्रता को सामजिक स्वतंत्रता से सम्बद्ध रूप में देखते हैं| इस प्रकार 'भवंती', 'अंतरा', 'शाश्वती' में लेखक के अमूल्य विचार आद्यंत है, जो पाठकों

[1] वही, पृ.282

[2] वही, पृ.273

के लिए अज्ञेय की रचनाओं को समझने हेतु अच्छा माध्यम है| इन पुस्तकों में लेखक ने उन यंत्रणा भरी सृजन प्रक्रिया का उद्घाटन किया है, जो उन्हें अंत तक उन्मथित करती रही| इस संदर्भ में कृष्णदत्त पालिवाक की यह उक्ति बिलकुल सटीक है-"अपने रचनानुभवों-संघर्षों-द्वंदों-तनावों-विरोधाभासों-अंतर्विरोधों के सच को अज्ञेय ने इन 'अन्तःप्रक्रियाओं' में उजागर किए है| इन अन्तःप्रक्रियाओं के 'क्लू' हमें अज्ञेय के कवि-मन की रचना को समझने का एक पुष्ट आधार देते हैं| यह कहना कि ये आधार ही उन्हें समझने का अंतिम सूत्र देते हैं|"[1]

[1] वही, पृ. 12

पंचम अध्याय

स्मृति-लेखा': एक आलोचनात्मक अध्ययन

5.1 प्रस्तावना

5.2 संस्मरण का स्वरूप

5.3 संस्मरण एवं अन्य कथेतर गद्य विधाओं में अंतर्संबंध

5.3.1 'स्मृति लेखा' का स्वरूप

5.4 संस्मरण की परंपरा

5.5 स्मृति लेखा' का आलोचनात्मक अध्यन

पांचवा अध्याय

'स्मृति-लेखा': एक आलोचनात्मक अध्ययन

5.1 प्रस्तावना

'स्मृति-लेखा'अज्ञेय के महत्वपूर्ण कृतियों में से एक है| दिखने में लघु लगने वाली यह संग्रह अपने आप में विशेष महत्त्व रखती हैं| विद्यानिवास मिश्र इसकी महत्ता को प्रतिपादित करते हुए कहते हैं –"स्मृति-लेखा ऐतिहासिक दस्तावेज नहीं है, पर स्मृति का विशिष्ट सर्जनात्मक उपयोग है, समकालीन साहित्य के इतिहास को नया चौखटा इस लेखा से मिलता है और इस दृष्टि से यह इतिहास रचना को एक नया आयाम देगा| यह इसकी एक गौण उपलब्धि है| इस की मुख्य उपलब्धि तो यह है कि लेखक, लेखक को कैसे देखता है- बस इस देखने को आप देखते रहे : आपकी आँखें नम हो जायेंगी|"[1] इस संस्मरण पर विचार करने से पूर्व संस्मरण क्या है, संस्मरण के वैशिष्ट्य क्या हैं, पर विचारना आवश्यक है, क्योंकि इस संस्मरण के प्रारंभ में ही विद्यानिवास मिश्र ने इसे संस्मरण के रूप में स्वीकार न करते हुए इसे संस्मरण विधा के रूप में स्वीकार नहीं किया है और वहीं दूसरी ओर भूमिका में लेखक ने इसे संस्मरणात्मक लेख कहा है| विद्यानिवास मिश्र कहते हैं-

"इन लेखों को संस्मरण नहीं कहा जा सकता क्योंकि संस्मरण बिखरा होता है और ये सभी लेखाएं संगठित हैं| इन्हें आलोचना या समीक्षा भी नहीं कह सकते क्योंकि भाई ने व्यक्ति और कृतिकार को जोड़कर इन्हें लिखा है|"[2]

****

दूसरी ओर लेखक कहते हैं-

---

[1] अज्ञेय, *स्मृति लेखा*, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दल्ली, 1982, पृ-भूमिका

[2] वही, पृ.दूसरे संस्करण की भूमिका

"'स्मृति लेखा' जैसे ग्रन्थ के लिए किसी लेखकीय भूमिका की कोई आवश्यकता नहीं है| ..वह भी संयोगवश हो ही गया था: स्फुट रूप में छपे इन संस्मरणात्मक लेखों को पढ़कर विद्यानिवास मिश्र जी ने कुछ टिप्पणी की थी और उसी की प्रतिक्रिया मेरे मन में यही थी कि क्यों न वह अपनी बात लिख डालें –मेरे लिए वह पुस्तक की एक उपयुक्त भूमिका भी हो जाएगी|"[1]

इस विरोधाभास की स्थिति में यह स्पष्ट होना आवश्यक है कि संस्मरण क्या है और इसके प्रमुख तत्त्व कौन-कौन से हैं तथा इसका अन्य कथेतर विधा यथा निबंध, यात्रावृतांत, जीवनी, आत्मकथा, आलोचना से क्या सम्बन्ध हैं|

5.2 संस्मरण का स्वरूप

संस्मरण का अर्थ है स्मृति से जुड़ी हुई| संस्मरण केवल अतीत की घटनाओं पर आधारित होती है। पर वह वर्तमान से भी उतना ही जुड़ी हुई होती है| जब किसी व्यक्ति, वस्तु, घटना आदि के साथ जुड़ी हुई स्मृतियों पर से समय का आवरण हट जाता है और अतीत की घटनाएं चलचित्र की भांति साकार होकर कलमबद्ध हो जाती है, तो संस्मरण की सृष्टि होती है। "अज्ञेय ने लिखा है समय कहीं ठहरता है स्मृति में ठहरता है| मगर संस्मरण में स्मृति जब आकार पाती है तो ठहरा हुआ समय मानो एक बार फिर चलने लगता है| जैसे किसी ने समय को अपने मुट्ठी में भर लिया हो और मौके पर मुट्ठी खोल दी हो| समय का चित्रण किसी फिल्म के फ़्लैशबैक की तरह साफ़ भी नहीं होता| स्मृति के झरोखों में काफी कुछ छन जाता है| लेकिन इसी स्मृति को फिर रचने की संभावनाएं खड़ी होती है| झरोखों से छनती धुप की तरह वह स्मृति हमिएँ गुनगुना ताप और उजास देती है|"[2]

---

[1]वही, पृ.भूमिका

[2] स. ओम थानवी, *अपने-अपने अज्ञेय-1*, वाणी प्रकाशन, दिल्ली,वर्ष-2011, पृ.भूमिका,

अंग्रेजी में संस्मरण के लिए दो शब्दों का व्यवहार होता है एक 'मेमायर'(memoir), दूसरा 'रेमिनिसेंसेज'(reminiscence)| जब व्यक्ति अपनी स्मृति द्वारा चुने गए जीवन प्रसंगों में स्वयं को महत्ता देता है तो उसे रेमिनिसेंसेज कहते हैं| इस प्रकार के संस्मरण आत्मकथा के निकट अधिक होते हैं| जहाँ लेखक अपने संस्मरण में किसी अन्य व्यक्ति को प्रमुखता देता है उसे मेमायर कहते हैं| दोनों में बड़ा ही सूक्ष्म अंतर है-"मेंमायर अपेक्षाकृत अधिक वस्तुपरक संस्मरण होते हैं| जिनमें घटनाओं का अधिकाधिक विवरण होता है हिंदी में इन दिनों मेंमायर इन के लिए संस्मरण शब्द ही पर्याय बना हुआ हैं| संस्मरण का अर्थ है-सम्यक स्मरण| रेमेनिसेंसेज लेखक के व्यक्तित्व एवं व्यक्तिगत जीवन की अनुभूतियों को कहीं अधिक स्पष्ट रूप में व्यक्त करता है|"[1]

संस्मरण का अर्थ "सम्यक स्मृति" भी है| व्यक्ति अपनी स्मृति की आधारशिला पर टिका होता है। उसकी स्मृतियाँ उसकी अस्मिता हैं और ये स्मृतियाँ ही उसके वर्तमान को अतीत से जोड़ती हैं। संस्मरण में अतीत के ख़ास क्षणों, महत्वपूर्ण मोड़ों को फिर से जीवित करने की कोशिश होती है। कई बार संस्मरण लिखते समय अतीत की साधारण घटना भी महत्वपूर्ण लगने लगती है। समान्यतः लोगों के मध्य यह धारणा रही है संस्मरण केवल चर्चित व्यक्तियों पर लिखी जाती है| पर ऐसा कदापि नहीं है| यदि कोई व्यक्ति या लेखक किसी अन्य व्यक्ति के साथ व्यतीत किए गए क्षणों को आत्मियता के साथ शब्दबद्ध करे तो वह भी संस्मरण की ही श्रेणी में आएगा| इसके लिए आवश्यक नहीं है कि लेखक किसी श्रद्धेय व प्रसिद्ध व्यक्ति का चुनाव करे| विषय महत्वपूर्ण होनी चाहिए|

वस्तुत्व, स्मृति, अनुभव, आत्मीयता, व्यक्तिकता, स्वानुभूत सत्य इत्यादि संस्मरण के प्रमुख तत्त्व हैं| संस्मरण में इन सभी का परस्पर संतुलित सम्मिश्रण होना चाहिए| संस्मरण में स्वयं लेखक भी उपस्थित रहता है| पर कहीं भी अपने आपको प्रमुख नहीं होने देता| केंद्र में विषय-वस्तु ही रहती है, अर्थात स्मरणीय व्यक्ति का व्यक्तित्व|

[1] हरवंशलाल शर्मा, *हिंदी रेखाचित्र*, हिंदी समिति सूचना विभाग, लखनऊ, 1969 पृ-18

लेखक विषय और विषयी को लक्षित करता हुआ लिखता है जिसके कारण वह स्वयं को इससे तटस्थ नहीं रख पाता है|

यह विधा आत्मनिष्ठ विधा के रूप में उभरी है| यह हिंदी गद्य की ललित, कलात्मक और जीवनीपरक विधा है| संस्मरणाकार अपने व्यक्तिगत जीवन के सम्पर्क में आए व्यक्ति या व्यक्तियों के विशिष्ट जीवन और पहलुओं को कथात्मक शैली में इस तरह शब्दबद्ध करता है कि वह हमारे स्मृति पटल पर पूरी तरह से चित्रित एवं अंकित हो जाते हैं| अनुभूतियों तथा स्मृतियों को अंकित करते हुए वह छोटी से छोटी और बड़ी से बड़ी रुचिकर तमाम घटनाओं का उल्लेख करता है|

सभी विद्वानों ने अपने-अपने अनुसार संस्मरण की परिभाषा दी है जिनमें से कुछ महत्वपूर्ण परिभाषाएं निम्नलिखित है-

राजेंद्र अवस्थी के अनुसार: "संस्मरण एक समूचा जीवन दर्शन है| वह व्यक्ति के समूचे व्यक्तित्व को भी प्रभावित करता है, तो उसके एक छोटे से अंग को भी| संस्मरण एक बहुत व्यापक श्रेणी है, क्योंकि इसमें व्यक्ति से लेकर स्थान, काल तक का समावेश होता है|"[1]

महादेवी वर्मा ने संस्मरण को परिभाषित करते हुए लिखा है –"हम यदि किसी से प्रगाढ़ और आत्मीय परिचय रखते हैं तो उस व्यक्ति की अनेक मनोवृत्तियों तथा उनके अनुसार आचरण करके देखना भी सहज हो जाता है और अपनी प्रतिक्रिया की स्मृति रखना भी स्वाभाविक हो जाता है| इन्हीं क्षणों का सुखद या दुखद प्रत्यावर्तन संस्मरण कहा जा सकता है|"[2]

वहीं एडगर जॉनसन् के अनुसार 'स्मरण' और संस्मरण शब्द प्रकृति और विषय की अव्यवस्था का संकेत करते हैं| लेखक लिखते समय जो-जो भी याद कर सकता है- उन्हीं का इसमें वर्णन होता है|

---

[1]सं.वेदप्रकाश अरोड़ा,*आजकल,नई दिल्ली*, अक्टूबर, 1992,पृ-6

[2]महादेवी वर्मा, *अतीत के चलचित्र*, भारती भण्डार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद, चौदहवाँ संस्करण, 1974,पृ-2

उपरोक्त परिभाषाओं से यह स्पष्ट है की संस्मरण स्मृति से जुड़ी हुई वह वृति है, जिसमें अनुभूत अतीत की स्मृतियाँ ही कल्पना के माध्यम से चित्रित होती है| संस्मरण का मूल आधार व्यक्तिनिष्ठता है|

संस्मरण के तत्त्वों पर विचार किया जाए तो विषय-वस्तु महत्वपूर्ण तत्त्वों में से एक तत्त्व है| क्योंकि अभिव्यक्त प्रसंगों, घटनाओं के माध्यम से ही स्मरणीय व्यक्ति के चरित्र निखर कर सामने आता है| साथ ही संस्मरण में विषय वस्तु में स्पष्टवादिता, रोचकता, सुसंगठन, संक्षिप्तता की मांग रहती है क्योंकि ये ही वे गुण हैं जो पाठक के मन मस्तिष्क पर अपना प्रभाव छोड़ती है| चरित्र-चित्रण संस्मरण का दूसरा महत्वपूर्ण तत्त्व है| संस्मरणों में पात्रों को बहुत कम अवसर मिलते हैं बोलने के, लेखक के माध्यम से ही ये पात्र हमारे सामने उभर के आते हैं| इसी तरह परिवेश भी संस्मरण के प्रमुख तत्त्वों में से एक हैं| लेखक का दायित्व होता है वे एक जीवंत परिवेश का रेखांकन करे| जीवंत परिवेश में ही पात्रों के चरित्र उभरकर सामने आते हैं| नरेश मेहता संस्मरण और अनुभूति के संबंध को और भी अधिक स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि- "संस्मरण और अनुभूति दोनों इतने पेरलल हैं कि साहित्य को स्व-अनुभूति से काटा नहीं जा सकता, जब वह वैयक्तिक होगा तो संस्मरण हो जाएगा और सर्वकालिक होकर वहीं मूल्यवान हो जाएगा|"[1]

5.3 संस्मरण एवं अन्य कथेतर गद्य विधाओं में अंतर्संबंध

संस्मरण को आत्मकथा का फ्लो कहा जा सकता है। लेकिन जब दूसरे का स्मरण किया जाए तो उसे संस्मरण-चित्र कहना अधिक सही रहेगा। लेकिन वह रेखाचित्र से भिन्न ही रहेगा क्योंकि रेखाचित्र प्राय: स्टिल-लाईफ़ पेंटिंग जैसे होते हैं। इस प्रकार संस्मरण आत्मकथा, जीवनी, रेखाचित्र आदि से भिन्न है| पर सामान्यत: इन सभी के मध्य भेद कर पाना काफी कठिन होता है| बनारसीदास चतुर्वेदी इस सम्बन्ध में कहते हैं- "संस्मरण, रेखाचित्र और आत्मचरित इन तीनों का एक दूसरे इतना घनिष्ठ

[1]महादेवी वर्मा, *अतीत के चलचित्र*, भारती भण्डार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद, चौदहवाँ संस्करण, 1974,पृ-भूमिका

सम्बन्ध है कि एक की सीमा दूसरे से कहाँ मिलती है और कहाँ अलग हो जाती है, इसका निर्णय करना कठिन है|"[1]

निबंध एवं संस्मरण में अंतर- साहित्यिक गद्य विधाओं में निबंध प्रमुख विधाओं में से एक है| निबंध का शब्दिक अर्थ है जो बंधा हुआ न हो| मूलतः निबंध शब्द का प्रयोग पहले भोजपत्रों के संदर्भ में होता था, वर्तमान में इसका उपयोग के केवल साहित्य के संदर्भ में होता है| प्रारम्भ में निबंध पद्य तथा गद्य दोनों रूप में लिखे जाते थे परन्तु आज केवल इसके गद्य रूप को ही निबंध के रूप स्वीकार किया जाता है| निबंध उसे कहते हैं जब लेखक किसी विषय का प्रतिपादन विभिन्न मतों व विचारों के माध्यम से आत्मीयता व निजीपन से करे अर्थात निबंध उस गद्य रचना को कहते हैं जिसमें सीमित आकार के भीतर किसी विषय का वर्णन या प्रतिपादन एक विशेष निजीपन, स्वच्छंदता, सौष्ठव और सजीवता तथा आवश्यक संगति तथा सभ्यता के साथ किया गया है|

निबंध एवं संस्मरण साहित्य में शिल्प एवं विषय के दृष्टिकोण से काफी समानताएं हैं पर कुछ उल्लेखनीय अंतर भी है, जो निबंध और संस्मरण विधा को अलग करती है| संस्मरण स्मृति पर आधारित रचना होती है जबकि निबंध विचारों पर आधारित होती है| संस्मरण स्वानुभूत सत्य घटनाओं व प्रसंगों के आधार पर संबंधित व्यक्ति के व्यक्तित्व का उद्घाटन करता है, जिसमें लेखक की तटस्था तथा निष्पक्षता जरुरी होती है, अर्थात कल्पना की गुंजाइश कम व न के बराबर होती है | जबकि निबंध स्वानुभूत सत्य पर आधारित नहीं होती है, यह कल्पना पर आधारित होती है| इसमें लेखक किसी विषय के प्रतिपादन हेतु कल्पना का आश्रय लेता है| संस्मरण में जहाँ भाव पक्ष प्रधानता होती है, वहीं निबंध में भाव पक्ष के साथ-साथ बुद्धि पक्ष का मिश्रण यथेष्ठ होता है| संस्मरण में लेखक अपने व्यक्तित्व को प्रक्षेपण करता है, मूल ध्येय स्मरणीय व्यक्ति ही होती है| जबकि निबंध में लेखक का व्यक्तित्व एवं विचार स्पष्ट रूप से परिलक्षित होते हैं|

[1]बनारसी दास चतुर्वेदी, *संस्मरण,* भारतीय ज्ञानपीठ,वाराणसी,द्वितीय संस्करण,1958,पृ.2

आत्मकथा तथा संस्मरण

आत्मकथा तथा संस्मरण दोनों ही स्मृति पर आधारित विधा होती है, पर आत्मकथा में लेखक अपने जीवन का चित्रण करता है जबकि संस्मरण में लेखक स्वयं से जुड़े प्रसंगों के माध्यम से किसी अन्य व्यक्ति के व्यक्तित्व को उजागर करता है| यहाँ लेखक की व्यक्तित्व के स्थान पर स्मरणीय के व्यक्तित्व और उनके विचारों का निष्पादन होता है| अर्थात आत्मकथा में केंद्र मी रचनाकार होता है जबकि संस्मरण के केंद्र में स्मरणीय व्यक्ति| आत्मकथा में कालक्रमानुसार जीवन का चित्रण होता है, वहीं संस्मरण में किसी एक घटना व प्रसंग का जिक्र होता है| संस्मरण और निबंधदोनों सत्य घटनाओं पर आधरित होती है, दोनों में ही लेखक को तटस्थ, निष्पक्ष होने की आवश्यकता होती है, ताकि आत्मप्रशंसा से बचा जा सके| दोनों ही कल्पना पर आधारित होती हैं| आत्मकथा तथा संस्मरण दोनों ही आत्मपरक विधा होती है, लेकिन दोनों के दृष्टिकोण में व्यापक अंतर है| आत्मकथा के रचनाकार का प्रमुख उद्देश्य अपनी जीवन कथा का वर्णन करता है, इसमें कथा का प्रमुख पात्र स्वयं लेखक होता है और अन्य ऐतिहासिक घटनाएँ व परिस्थितियों का वर्णन होता है जो लेखक जो लेखक को प्रभावित व नियंत्रित करती है| शैली की दृष्टि से संस्मरण आत्मपरक होते हुए भी इसका रचनाकार प्रमुख नहीं होता, स्मरणीय व्यक्ति ही प्रमुख होता है, अर्थात संस्मरणकार अपने को धुंधलके में रखकर स्मरणीय व्यक्ति के व्यक्तित्व को उजागर करता है| इस प्रकार आत्मकथा तथा संस्मरण में घनिष्ठ सम्बन्ध होते हुए बहुत ही बारीक़ अंतर है|

अतः आत्मकथा में निजी जीवन के दस्तावेज़ीकरण की कोशिश होती है तो संस्मरण में दस्तावेज़ की शुष्कता के बजाय भावना अधिक सक्रिय होती है इसीलिए अतीत के मुलाकाती, परिजन, घटनाएँ अधिक आत्मीयता से प्रस्तुत हो पाती हैं। अनुभव ही प्रमुख रहता है|

यात्रा वृतांत तथा संस्मरण

यात्रा वृतांत तथा संस्मरण एक ही सिक्के के दो पहलू हैं, इसलिए इसे यात्रा संस्मरण भी कहा जाता है| संस्मरण के विषय किसी घटना, प्रसंग से प्रेरित रहते हैं| उन घटनाओं पर केवल समय की धूल जमी रहती है, जिसे लेखक अपने स्मरण के माध्यम से उसे हटाकर आत्मीयता का मिश्रण करते हुए कलात्मक रूप से शब्दबद्ध करता है| अर्थात जब लेखक अपने संचित स्मृतियों पर से समय का आवरण हठा देता है और उन स्मृतियों को जब वह साहित्यिक रूप देता है तो वह विधा संस्मरण कहलाती है| संस्मरण सत्य पर आधारित होती हैं| अतः यहाँ लेखक को कल्पना के मिश्रण हेतु बहुत कम अवसर प्राप्त होते हैं|लेखक का यह भी दायित्व होता है कि उसमें रोचकता को बरक़रार रखें, अन्यथा संस्मरण की शैली विवरणात्मक या वर्णनात्मक हो सकती है, इसलिए भावों की प्रमुखता होनी चाहिए, इसलिए भावों को कलात्मक रूप से प्रस्तुत किया जाए|

यात्रावृतांत में भी स्मृतियों के सहारे यात्रा के दौरान घटित अतीत की घटनाओं को कलात्मक रूप दिया जाता है,परन्तु यात्रावृतांत में भौगोलिक विस्तार, प्राकृतिक सौंदर्य, और यात्रा की घटनाएँ महत्वपूर्ण होती है, पर संस्मरण में यह अपेक्षित नहीं है| इस संदर्भ में डॉ राम स्वरूप चतुर्वेदी ने कहते हैं- “यात्रा संस्मरण का एक पक्ष भूगोल के आकर्षण से जुड़ा हुआ है| देश-दर्शन यात्रा संस्मरण की मूल वृति है, जिसमें एक और प्रकृति की पुकार है, दूसरी ओर साहसिक जिज्ञासा| यात्रा मानो विराट, मानवीय विकास का ही एक सीमित प्रतीक है| इस दृष्टि से यात्रा-संस्मरण लेखक और पाठक दोनों के लिए एक आदिम प्रतिक या पुराण कथा बार-बार अपने को खोलता रहता है|”[1] यात्रा-वृतांत यात्रा के दौरान परिचित होने वाले व्यक्तियों के साथ व्यतीत किए गए समय या घटित महत्वपूर्ण घटना को लेखक भावपूर्ण रूप से या कलात्मक रूप से अभिवयक्त करता है, जहाँ स्मरणीय व्यक्ति से संबंधित प्रसंगों के माध्यम से उसके व्यक्तिगत चरित्रों का भी उद्घाटन होता है,

[1] रामस्वरूप चतुर्वेदी, हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास, लोकभारती प्रकाशन, अलाहाबाद, पंद्रहवा संस्करण,2001, पृ.101

इसलिए यात्रावृतांत को यात्रा संस्मरण भी कहते है, पर यह प्रत्येक यात्रावृतांत में यह आवश्यक नहीं है|

इस प्रकार यात्रावृतांत तथा संस्मरण दोनों में ही स्वानुभूत प्रसंगों व घटनाओं का प्रतिपादन होता है, पर यात्रवृतांत केवल यात्रा के दौरान स्वानुभूत घटनाओं व प्रसंगों को उजागर करता है, यहाँ स्थान, भौगोलिक विस्तार, प्रकृति सौन्दर्य की प्रधानता रहती है जबकि संस्मरण किसी भी व्यक्ति विशेष के साथ व्यतीत किए गए समय के दौरान घटित महत्वपूर्ण घटनाओं का ब्यौरा होती है और यहाँ स्मरणीय व्यक्ति का व्यक्तित्व ही केंद्र में रहता है|

रेखाचित्र तथा संस्मरण

रेखाचित्र तथा संस्मरण दोनों ही विधाएं सृजनात्मक स्तर पर सामान है, दोनों में ही स्मृति के आधार पर स्मरणीय व्यक्ति के व्यक्तित्व को उजागर किया जाता है, पर रेखाचित्र में रचनाकार स्मृति का कुछेक रेखाचित्रों के आधार पर व्यक्तित्व का चित्रण स्टील पेंटिंग की तरह करता है| रेखाचित्र स्वरूप के सम्बन्ध में बनारसीदास चतुर्वेदी लिखते हैं- "रेखाचित्र खींचना एक कला है| थोड़ी सी रेखाओं के द्वारा एक सजीव चित्र बना देना किसी कुशल कलाकार का ही काम हो सकता है| उनके अनुसार सफल चित्रण के लिए चित्रकार में विश्लेषणात्मक बुद्धि तथा भावुकतापूर्ण ह्रदय, दोनों का सामजंस्य होना चाहिए| परदु:खकातरता, संवेदनशीलता, विवेक और संतुलन इन सब गुणों की आश्यकता है| वे कहते हैं कि यदि आपके ह्रदय में गुणज्ञता हो, स्वाभव में रसज्ञता और मस्तिष्क में विश्लेषण शक्ति तथा विवेक भी, तो आप एक से एक रेखाचित्र खींच सकते हैं|"[1]जबकि संस्मरण में गतिशील रूप से व्यक्तित्व का उजागर करता है| महादेवी वर्मा ने संस्मरण की परिभाषित करते हुए कहा है –"हम यदि किसी से प्रगाढ़ और आत्मीय परिचय रखते हैं तो व्यक्ति की अनेक मनोवृतियाँ तथा उनके अनुसार आचरण करके देखना भी सहज हो जाता है और आपनी प्रतिक्रिया की

[1]बनारसी दास चतुर्वेदी, *संस्मरण,* भारतीय ज्ञानपीठ,वाराणसी,द्वितीय संस्करण,1958,पृ.4

स्मृति रखना भी स्वाभाविक हो जाता है| इन्हीं क्षणों का सुखद या दु:खद प्रत्यावर्तन संस्मरण कहा जा सकता है|"[1]

रेखाचित्र अपेक्षित,अति साधारण व्यक्ति के असाधारण व्यक्तित्व का चित्रण करता है, जबकि संस्मरण बहुधा परिचित, असाधारण व्यक्तित्व का चित्रण करता है| रेखाचित्र में वर्णनात्मक चित्रण की प्रमुखता रहती है जबकि संस्मरण में विवरणों की प्रधानता रहती है। संस्मरण में कथाओं और प्रसंगों का उपयोग किया जाता है जबकि रेखाचित्र में रूप की अभिव्यक्ति पर अधिक ध्यान केन्द्रित होता है। संस्मरण देशकाल और परिस्थितियों से बंधे होते हैं जबकि रेखाचित्र में यह अनिवार्य नहीं है, वर्ण्य-विषय या वस्तु की प्रमुखता रहती है। संस्मरण में अतीत की घटनाओं का उल्लेख होता है संबंधित होते हैं जबकि रेखाचित्र में समकालीन घटनाओं या दृश्यों का वर्णन भी हो सकता है। रेखाचित्र में सामान्यतः लेखक की दृष्टि संवेदनशील होती है जबकि संस्मरण में श्रद्धात्मक होती है। शैली की दृष्टि से रेखाचित्र में प्रायः लेखक समास शैली प्रयोग करता है जबकि संस्मरण में लेखक व्यास शैली में का प्रयोग करता है| संस्मरणों में लेखक की अपनी रूचि-अरुचि, राग-द्वेष आदि विभिन्न घटनाओं और प्रसंगों के माध्यम से व्यक्त होती चलती है, जबकि रेखाचित्र में लेखक इन सबसे तटस्थ होता है।

संस्मरण में अतीत की स्मृति भावात्मक, क्षणिक, अस्पष्ट, अपूर्ण और आंशिक होती है, किन्तु रेखाचित्र की स्मृति अपेक्षाकृत अधिक सघन, अधिक स्पष्ट होते हैं | रेखाचित्र में सत्य होते हुए भी स्वच्छंदता बनी रहती है, जबकि संस्मरण में स्वच्छंदता और कल्पना तत्त्व का समावेश नहीं होता है|

[1] महादेवी वर्मा, *अतीत के चलचित्र*, भारती भण्डार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद, चौदहवाँ संस्करण, 1974,पृ-भूमिका

जीवनी तथा संस्मरण

संस्मरण तथा जीवनी में मूलभूत अंतर है| संस्मरण का लेखक पहले साहित्यकार होता है, जबकि जीवनी का लेखक पहले इतिहासकार होता है| जीवनी के लेखक के लिए चरितनायक से साक्षात्कार करने की आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि वह उनसे संबंधित दस्तावेजों, ग्रंथों, पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से भी उनके जीवन का चरित्रांकन कर सकता है| पर संस्मरणकार स्मरणीय व्यक्ति के साथ बिताए गए समय में घटित घटनाओं, अनुभूतियों का वर्णन अपने संस्मरण में करता है| कालक्रम के दृष्टि से संस्मरण मुक्त होतेहैं, इसमें लेखक अपनी स्वनुभुतियों को एक ही ढर्रे में लिखे यह आवश्यक नहीं है| जीवनी इतिहास पर आधारित होती है, इसलिए कालक्रम को बनाए रखना अनिवार्य है| जीवनी में लेखक का व्यक्ति जीवन कहीं भी समाविष्ट नहीं होता, जबकि संस्मरण में लेखक का जीवन आद्यंत उपस्थित रहता है| संस्मरण तथा जीवनी दोनों में ही लेखक का तटस्थ रहना अपेक्षित होता होता है| यदि जीवनी का लेखक का चरितनायक के साथ आत्मीय सम्बन्ध है तो यह स्वाभाविक है कि रचनाकार जीवनी में उसके साथ बिताए गए क्षणों का उल्लेख करे|इस दृष्टि से संस्मरण भी जीवनीमूलक हो सकती है| अर्थात दोनों में एक दूसरे के गुण के समावेश होने की संभावना होती है,पर दोनों में कुछ समानताओं के बावजूद भी काफी अंतर है|

आलोचना तथा संस्मरण:

आलोचना को **समालोचना** (Criticism) के नाम से भी जाना जाता है| जब किसी रचना को समग्र रूप से परखा जाता है उसे आलोचना कहते हैं अर्थात किसी रचना के विषय वस्तु के लक्ष्य को ध्यान में रखते हुएउसके गुण-दोष का प्रतिपादन किया जाता है तव वह विधा आलोचना कहलाती है । 'आलोचना' व समालोचना' का शाब्दिक अर्थ है - 'अच्छी तरह देखना'।

आलोचना शब्द 'लुच' धातु से बना है। 'लुच' का अर्थ है 'देखना'|समीक्षा और समालोचना शब्दों का भी यही अर्थ है। आलोचना के लिए अंग्रेजी में'क्रिटिसिज्म' अर्थात 'criticism' शब्द का व्यवहार होता है| संस्कृत में इसके लिए 'टीका-व्याख्या' और काव्य-सिद्धान्तनिरूपण के लिए भी आलोचना शब्द प्रचलित है, जबकि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने संस्कृत के काव्य-सिद्धान्तनिरूपण के लिए आधुनिक आलोचना शब्द को उपयुक्त नहीं माना है| आलोचना का कार्य है किसी साहित्यक रचना की अच्छी तरह से परिक्षण कर उसके रूप, गुण, दोष, मूल प्रवृत्तियों तथा उसके उद्देश्य का निरूपण करना है| वैसे आलोचना कई प्रकार के होते है, पर उसमें आलोचना के दो रूप ऐसे हैं जो स्पष्ट रूप से परिलक्षित होते हैं -i) सैद्धांतिक आलोचना ii) व्यावहारिक आलोचना

सैद्धान्तिक आलोचना में साहित्य के सिद्धान्तों पर विचार किया जाता है। जब किसी रचना का मूल्यांकन प्राचीन शास्त्रीय काव्यांगों -रस, अलंकार आदि या साहित्य के आधुनिक मान्यताओं तथा नियमों के आधार पर की जाती है तो उसे सैद्धांतिक आलोचना कहते हैं| व्यवहारिक आलोचना में जब कृति के गुण-दोष, वैशिष्टय, उद्देश्य पर जब स्वतंत्र रूप से विचार किया जाता है|

जहाँ तक संस्मरण तथा आलोचना के सम्बन्ध का प्रश्न है, संस्मरण में आलोचना का संस्पर्श न के बराबर होता है| संस्मरण में लेखक स्मृति का आश्रय लेते हुए लेखक स्मरणीय व्यक्ति के साथ बिताए गए क्षणों को आत्मीय भाव से व्यक्त करता है, पर कभी–कभी साहित्यिक दृष्टिकोण से लिखे गए संस्मरणों में लेखक स्मरणीय व्यक्ति के व्यक्तित्व के साथ-साथ कृतित्व के गुण-दोष की विवेचना करता चलता है, ऐसे संस्मरणों को केवल संस्मरण कहना उचित नहीं हैं, इसलिए इसे आलोचनात्मक संस्मरण कहा जाता है| आलोचनात्मक संस्मरण में भी केवल व्यावहारिक आलोचना की ही गुंजाइश होती है|

5.3.1 स्मृति लेखा का स्वरूप:

उपरोक्त संस्मरण की परिभाषाओं, वैशिष्ट्यों, तत्त्वों के आधार रूपी मानदंडों की कसौटी पर स्मृति लेखा को कसे तो विद्यानिवास मिश्र जी का यह उक्तिकि यह रचना न तो संस्मरण है और न ही आलोचना, पूरी तरह से सार्थक सिद्ध नहीं होती है| क्योंकि इस संग्रह में संस्मरण के वे सारे तत्त्व यथा वस्तुत्व, स्मृति, अनुभव, आत्मीयता, व्यक्तिकता, स्वानुभूत सत्यमौजूद हैं जो एक संस्मरण में होने चाहिए, लेकिन विद्यानिवास मिश्र की यह बात एकदम सटीक है यह संस्मरण बहुत ही सुगठित है क्योंकि इसमें संस्मरण जैसे बिखराव कम हैं अर्थात संस्मरण का कोई ओर-छोर नहीं होता है, यह कोई ढ़र्रेवर प्रक्रिया में नहीं लिखी जाती है| साथ ही जगह-जगह लेखक के आलोचक गुण भी उभरा कर सामने आते हैं| समान्यतः संस्मरणों में स्मरणकार स्मरणीय व्यक्ति के चरित्र को घटना-प्रसंगों के माध्यम से बड़ी ही आत्मीयता के साथ रेखांकित करता है| पर लेखक ने इन चरित्रों के व्यक्तित्व के मूल्यांकन के साथ-साथ उनके कृतित्व का भी मूल्यांकन साहित्यिक मान्यताओं के आधार पर किया है जो इस संस्मरण को आलोचनात्मक परिधि के अंतर्गत ले आता है| हम यहाँ एक लेखक के माध्यम से दूसरे लेखक को देखते हैं, जिससे लेखक के बौद्धिकता का भी परिचय मिलता है, जो इस संस्मरण को अन्य संस्मरणों से अलग करती है| कुल मिलाकर इसे आलोचनात्मक संस्मरण कहा जा सकता है| पर यह संस्मरण व्यवहारिक आलोचना तथा सैद्धांतिक दोनों ही आलोचना के निकट है, एक तरफ वे साहित्यिक मान्यताओ के आधार पर स्मरणीय व्यक्तियों के रचनाओं का मूल्यांकन करते हैं वहीं दूसरी तरफ उनके साहित्य के गुण दोष का भी स्वतंत्र रूप से उद्घाटन करते हैं| चूँकि 'स्मृति-लेखा' में स्मरणीय व्यक्ति के व्यक्तित्व को स्मृति के आधार पर घटनाओं व प्रसंगों के माध्यम से उजागर किया गया है, इसलिए इसमें संस्मरण के गुण भी मौजूद है| यहाँ लेखक स्मरणीय व्यक्ति के सर्जनात्मक पहलुओं को बौद्धिकता के स्तर निरुपित करते हैं इसलिए इसमें आलोचना का भी गुण मौजूद है| अतः स्मृति लेखा को 'संस्मरणात्मक लेख' कहना अनुचित होगा क्योंकि इसके संस्मरणातमक लेख कहने पर आलोचनात्मक गुण का निदर्शन नहीं होता है तथा साथ

ही लेख में स्मृति की प्रधानता नहीं रहती है जबकि संस्मरण स्मृति पर ही आधारित होती है एवं आत्मपरकता के गुण मौजूद होते हैं, इसके विपरीत संस्मरण में लेखक को तटस्थता बनाए रखनी होती है| अतः यह स्पष्ट है कि प्रस्तुत रचना को 'संस्मरणात्मक लेख' के स्थान पर 'आलोचनात्मक संस्मरण' कहना ही अधिक उचित होगा|

5.4 संस्मरण की परंपरा

संस्मरण की परंपरा पर दृष्टिपात करने पर यह पता चलता है इसका उद्भव भी अन्य गद्य विधाओं की तरह पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से आधुनिक युग में हुआ| इससे पूर्व यह एक स्वतंत्र गद्य विधा के रूप में उपलब्ध नहीं थी, पर हाँ कुछेक रचनाओं में कहीं-कहीं संस्मरण संबंधी प्रसंग मौजूद हैं| मूल रूप से संस्मरण का विकास द्विवेदी युग में हुआ| पर इससे पूर्व भारतेंदु ने 'कुछ आपबीती कुछ जगबीती' ने लिखा, जिसमें लेखक ने अपने आस पास के व्यक्तियों तथा परिवेश का चित्रांकन किया है, इसमें लेखक ने तेईस वर्षों के आप बीती अवस्था का चित्रण किया है, और ये चित्रण संस्मरणत्मक है|

द्विवेदी युग में संस्मरण के विकास में सरस्वती पत्रिका का विशेष योगदान है| इसके अतिरिक्त माधुरी, क्षुदा, विशाल भारत आदि साहित्यिक पत्रिकाओं की भी उल्लेखनीय भूमिका रही है| आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी, राम कुमार खेमका, पद्मसिंह शर्मा, प्यारेलाल मिश्र, काशीप्रसाद जायसवाल आदि लेखकों के संस्मरण इस पत्रिका के माध्यम से प्रकाशित होते रहे हैं| इस समय अधिकांशतः संस्मरण यात्राओं, दर्शनीय स्थलों आदि से संबंधित होने के कारण इसका स्वरूप कहीं-कहीं वर्णात्मक हो गया है| सामजिक सुधारकों पर भी कई संस्मरण लिखे गए| कुछ विद्वानों ने बालमुकुन्द गुप्त द्वारा 'प्रताप नारायण मिश्र' पर लिखे गए संस्मरण को हिंदी का पहला संस्मरण माना, जिसकी रचना सन् 1907 में हुई| इसी समय बालमुकुन्द गुप्त ने 'हरिऔध जी के संस्मरण' नामक संस्मरण लिखा, जिसमें पन्द्रह संस्मरण संकलित हैं| वहीं दूसरी ओर कुछ विद्वानों ने पद्मसिंह शर्मा को पहला संस्मरणकार माना है क्योंकि उनके अनुसार साहित्यिक रूप से पहली बार संस्मरण को प्रतिष्ठित करने का

कार्य उन्होंने किया| सन् 1929 ई. में पद्मसिंह शर्मा की 'पदम पराग' का प्रकाशन हुआ जिसमें आमिर खुसरो, स्वामी दयानन्द, भीमसेन शर्मा, कवी अकबर, गणपति शर्मा से जुड़े प्रसंगों को उजागर किया गया है| पद्मसिंह की इस कृति में रेखाचित्र,आत्मकथा,जीवनी,निबंध के भी गुण मौजूद है परन्तु सबसे निकट यह संस्मरण के ही है|

संस्मरण की परम्परा को प्रतिष्ठापित करने में बनारसीदास चतुर्वेदी, राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह, बाबू गुलाब राय, इलाचंद्र जोशी, महादेवी वर्मा, शांतिप्रिय द्विवेदी, शिव पूजन सहाय, माखन लाल चतुर्वेदी, उपेन्द्र नाथ अश्क आदि का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है|

राधिकारमण सिंह का 'सावनी समां', 'सूरदास' संस्मरण उल्लेखनीय है| 'सावनी समाँ' में लेखक ने एक राजा साहब की बस्ती की कथा का चित्रण किया है| 'सूरदास' में सूरदास नामक निम्नवर्गीय पात्र के माध्यम से मानवीय संवेदना को दिखाया है| इनके संस्मरणों में उर्दू मिश्रित भाषा शैली का प्रयोग किया है|

बनारसी दास चतुर्वेदी की 'संस्मरण' पुस्तक प्रसिद्ध है| इसमें 21 संस्मरण संकलित हैं| अधिकांश संस्मरण प्रसिद्ध कवियों व लेखकों व आलोचकों पर ही लिखे गए हैं| श्रीधर पाठक, दीनबंधु, प्रेमचन्द, गणेश शंकर विद्यार्थी, किशोरीलाल गोस्वामी, आदि से जुड़े प्रसंगों को इस संस्मरण में उद्दृत किया गया है|

छायावाद युग तक आते-आते संस्मरण काफी समृद्ध हो गया| यह प्रचुर मात्र में लिखी गयी| छायावाद युग में ही संस्मरण को एक वास्तविक पहचान मिली| माधुरी, सुधा, विशाल भारत आदि पत्रिकाओं ने इसके विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया है| इस युग में हिंदी संस्मरण के विकास में सबसे उल्लेखनीय योगदान जिस संस्मरणकार का रहा वह हैं महादेवी वर्मा का| कवयित्री के रूप विशेष ख्याति पायी| परन्तु संस्मरण लेखिका के रूप में के समादृत रही हैं| इन्होंने कविता से अधिक संस्मरण लिखा|'क्षणदा', 'अतीत के चलचित्र', 'स्मृति की रेखाएं,' 'श्रृंखला की कड़ियाँ', 'पथ के साथी' 'संस्मरण' आदि उनके प्रमुख संस्मरण संग्रह रहे हैं| इन के अधिकांश संस्मरणों

में सामाजिक विषमता, नारी ह्रदय की की वेदना के मार्मिक विश्लेषण के साथ-साथ उपेक्षित-प्रताड़ित जनों की पीड़ा का वर्णन किया गया है| इसके अतिरिक्त पशु-पक्षियों के लोक तथा प्रकृति का मनोहारी चित्रण किया गया है|

महादेवी जी के संस्मरणों में एक अद्भुत आकर्षण है| संश्लिष्ट विम्ब, लाक्षनिकता, तत्समयुक्त शब्दों के साथ विभिन्न भाषा बोलियों के शब्दों, मुहावरों, लोकोक्तियों के अर्थव्यंजक प्रयोग करती हैं| उनके संमरण हिंदी की संपदा हैं|

महादेवी जी के बाद शिवपूजन सहायहिंदी संस्मरण साहित्य के प्रमुख संस्मरणकार में से एक हैं| “वे दिन:वे लोग” उनके संस्मरणों का स्वतंत्र संकलन है| बड़े ही उदात्त भाव से लेखक ने स्मरणीय व्यक्तियों के चरित्र का वर्णन किया| यथास्थान देशज शब्दों के साथ साथ काव्यात्मक भाषा का प्रयोग करते हैं|

रेखाचित्र और संस्मरण परस्पर मिलती-जुलती विधा है| महादेवी वर्मा ने भी कहा है कि कब संस्मरण की सीमा रेखाचित्र की परिधि से घुल मिल जाते हैं पता ही नहीं चलता| इसका उदाहरण रामवृक्ष बेनीपुरी के संस्मरणों में देखा जा सकता है| ‘लालतारा’, ‘माटी के मूरतें’, ‘गेहूं और गुलाब’, जैसे रचनाओं में संस्मरण और रेखाचित्र दोनों विधा के वैशिष्ट्य देखने को मिलते हैं| बेनीपुरी जी के ‘उड़ते चलो’ देश विदेश के यात्राओं का रमणीय वर्णन है| इसके अतिरिक्त भी उन्होंने कई संस्मरण लिखें, जिसमें उनकी भाषा की चपलता देखने योग्य है| उनकी भाषा में उनके मस्त-मौला व्यक्तित्व का प्रक्षेपण है|

शिवपूजन सहाय के संस्मरणों में; वे दिन’ बहुत ही महत्वपूर्ण संस्मरण है| इन संस्मरणों में लेखक ने जयशंकर प्रसाद, निराला, नलिन विलोचन शर्मा आदि प्रख्यात साहित्यकारों के साथ व्यतीत किए गए क्षणों को बड़े ही आत्मीयता से उकेरा है| इन संस्मरणों में यात्रा सम्बन्धी संस्मरण, श्रद्धांजलि मूलक संस्मरण की प्रधानता रही है| लेखक ने स्मरणीय व्यक्ति के व्यक्तित्व के साथ-साथ कृतित्व पर विचार किया है|

रामवृक्ष बेनीपुरी की सबसे महत्वपूर्ण संस्मरणात्मक कृति 'माटी की मूरतें' हैं| इसमें लेखक ने अपने गाँव तथा ननिहाल के उन चरित्रों का उद्घाटन किया है जो उनके जीवन में अन्यतम स्थान रखते हैं| यह संस्मरण जेल के एकांत जीवन में लिखी गयी| उनके शब्दों में- "हजारीबाग़ सेन्ट्रल जेल के एकांत जीवन में अचानक मेरे गाँव और ननिहाल के कुछ ऐसे लोगों की सूरतें मेरी आँखों के सामने आकर नाचने और मेरी मेरी कलम से चित्रण की याचना करने लगीं| उनकी याचना में कुछ ऐसा जोर था कि अंतत: यह माटी की मूरतें तैयार होकर रही"[1]इसके अतरिक्त बेनीपुरी जी ने जेल में बिताए पंद्रह वर्ष की स्मृतियों को अपने संस्मरण " जंजीरें और दीवारें" कैद किया है , परन्तु इसमें उनका लेखक का निजी व्यक्तित्व अधिक उभरा है|

शांतिप्रिय द्विवेदी का 'पथचिह्न' उल्लेखनीय संस्मरण है| यह संस्मरण लेखक ने अपनी बहन की स्मृति में लिखा है, अपनी बहन को उन्होंने भारत माता की आत्मा के रूप में देखा है| ये संस्मरण कुछ ज्यादा ही पर्सनल हैं| जैसा कि संस्मरण दिक्-काल से बंधे नहीं होते है परन्तु इस संस्मरण में लेखक ने समय का उल्लेख किया है| इसमें लेखक ने अपने परिवार के सदस्यों से जुड़े प्रसंगों को बहुत ही संवेदनशील रूप से कलमबद्ध किया है|

सन् 1956 में उपेन्द्रनाथ अश्क द्वारा रचित 'मंटों मेरा दुश्मन' संस्मरण की परंपरा की महत्वपूर्ण कड़ी साबित हुई| इसमें मंटों सम्बन्धी घटनाओं के माध्यम से मंटों तथा स्वयं लेखक का व्यक्तित्व भी उद्घाटित हुआ है| इस संस्मरण के माध्यम दोनों के रागात्मक संबंध के साथ-साथ तत्कालीन राजनैतिक परिस्थितयों का भी चित्रण किया गया है| मंटों की मृत्यु के बाद लेखक के जीवन में जो रिक्तता आती है उस रिक्तता का उद्घाटन बहुत ही भावात्मक रूप से वर्णन किया गया है| इसके अतरिक्त अश्क की 'आसमां और भी' संस्मरण भी उल्लेखनीय है| इसमें महादेवी वर्मा, हरिवंश राय बच्चन, माखन लाल चतुर्वेदी से संबंधित संस्मरण हैं|

[1] रामवृक्ष बेनीपुरी, माटी की मूरतें, किताबघर, नई दिल्ली, पृ.67

लेखिका 'शिवरानी देवी' ने अपने संस्मरण 'प्रेमचंद घर में' में अपने पति प्रेमचन्द के घरेलू जीवन के जुड़े प्रसंगों को उजागर किया है| इसमें लेखिका ने बचपन से प्रारम्भ करके कुल अठ्ठासी उपशीर्षकों में प्रेमचंद से जुड़े प्रसंगों को स्मृति के आधारपर सजीव प्रस्तुत किया है| सम्पूर्ण कृति में प्रेमचंद के व्यक्तित्व, रहन-सहन, जीवन यापन का परिचय मिलता है| प्रेमचन्द तथा लेखिका ने किस प्रकार जीवन में कठिन चुनौतियों का सामना एक साथ कैसे किया इसका वर्णन भी मिलता है| लेखिका के शब्दों में- "मानवता की दृष्टि से भी यह व्यक्ति कितना महान, कितना विशाल था, यही बताना इस पुस्तक का उद्देश्य है और यह बताने का अधिकार जितना मुझे है, उतना और किसी को नहीं, क्योंकि उन्हीं के शब्दों हम दोनों एक ही नाव के यात्री थे और साथ-साथ जिंदगी के सारे तूफानों को झेला था|"[1]

सन् 1962 में प्रकाशित माखनलाल चतुर्वेदी का 'समय के पांव' में जयशंकर प्रसाद, सुभद्रा कुमारी चौहान, रविंद्रनाथ टैगोर जैसे कवियों तथा महात्मा गाँधी, बाल गंगाधर तिलक, सुभाष चन्द्र बोस जैसे महापुरुषों से जुड़े संस्मरण संकलित हैं|

इसी क्रम में अज्ञेय एक आधुनिक संस्मरण की परंपरा में एक महत्वपूर्ण कड़ी के रूप में उभरते हैं| 'स्मृति लेखा' संस्मरण में केवल चरितनायकों के ही व्यक्तित्व उभरकर सामने नहीं आते, बल्कि लेखक का भी व्यक्तित्व भी उभरकर सामने आता है| वे स्मरणीय व्यक्तियों के साथ शालीनतापूर्वक व्यवहार करते हैं, किन्तु जहाँ भी आलोचना और असहमति के बिंदु उभरते हैं तो वहां वे आलोचनात्मक रुख अपनाते हैं| यही कारण है इसे आलोचनात्मक संस्मरण कहा जाता है|

5.5 'स्मृति लेखा' का आलोचनात्मक अध्यन

स्मृति लेखा का प्रकाशन सन् 1982 में हुआ| प्रस्तुत संग्रह में अज्ञेय ने 12 व्यक्तियों पर संस्मरण लिखे हैं, जिसमें से एक संस्मरण को छोड़कर सारे संस्मरण साहित्यिक है| ये बारह संस्मरण इस प्रकार से हैं- 1.भारत कोकिला (सरोजिनी नायडू),

[1] शिवरानी देवी, *प्रेमचंद घर में,* सरस्वती प्रेस, बनारस, प्रथम संस्करण,1944,पृ. दो शब्द

2.राष्ट्रकवि (मैथिलीशरण गुप्त), 3.स्मरण के स्मृतिकार (राय कृष्णदास), 4.उपन्यास सम्राट (प्रेमचंद), 5.वसंत के अग्रदूत (सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'), 6. स्वर सिद्ध (सुमित्रानंदन पन्त), 7.कवि वत्सला (होमवती देवी), 8. एक भारतीय आत्मा: एक चुनौती (माखनलाल चतुर्वेदी), 9. धरती का धनी (फणीश्वर नाथ 'रेणु'), 10.समय-सूर्य (रामधारी सिंह दिनकर), 11. बीसवीं सदी का बाणभट्ट (हजारीप्रसाद द्विवेदी), 12.असीम औ' ससीम बीच (बालकृष्ण शर्मा 'नवीन')

प्रस्तुत संस्मरणों में अपने और रेणु के सम्बन्ध को बहुत अपनेपन से स्मरण करते हैं, तो हजारीप्रसाद के स्नेह को बड़े भाई के प्रेम से दर्शाते हैं| मैथिलीशरण गुप्त उनके प्रेरणा स्रोत रहे हैं| इन संस्मरणों में उन्होंने न केवल रचनाकारों के सम्पूर्ण व्यक्तित्व को उजागर किया है और बल्कि उनके समस्त रचनाओं को समेटा है| जिन रचनाओं ने उन्हें प्रभावित किया है उन्हीं रचनाओं का वे उल्लेख करते हैं| चरितनायकों के व्यक्तित्व के भी उन्हीं अंशों को दिखाते हैं जिनसे उनका प्रत्यक्ष सम्बन्ध रहा है| अज्ञेय की 'स्मृति लेखा' 1982 में प्रकाशित हुई| इस समय तक हमारे देश में सूचना क्रांति का आगमन ही हुआ था कि रचनाकार ने इस आगमन को बहुत पहले ही अनुभव कर लिया था| अज्ञेय ने सूचना क्रांति के परिणाम को उसी समय देख लिया था जिसको हम आज देख रहे हैं| किस तरह सूचना क्रांति ने सारी घटनाओं, सारी परिस्थियियों को मात्र सूचना में तब्दील कर दिया है| इस संदर्भ में लेखक इस पुस्तक के दूसरे संस्करण की भूमिका में कहते हैं, "अखबार और दूरसंचार के माध्यमों ने आज जितना नए प्रकार के काल का निर्माण किया है एक बहुत छोटे से आयाम वाले वर्तमान का, जो स्वयं तो अतिप्रकाशित है लेकिन जिस के आगे-पीछे अँधेरा है|"[1]लेखक का यहाँ दूरदर्शी व्यक्तित्व हमारे सामने आता है|

[1]अज्ञेय, *स्मृति लेखा*, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दल्ली, 1982, पृ-दूसरे संस्करण की भूमिका

इस छोटी सी पुस्तक के माध्यम से उन साहित्यकारों की स्मृतियों को ताजा करने का प्रयत्न किया गया है जिन्होंने न केवल लेखक के बल्कि हिंदी के हर पाठक के साहित्यिक संवेदना के निर्माण में महत्वपूर्ण योगदान दिया है और उसे संस्कार दिया है| जिन्होंने हमें अपनी अस्मिता की पहचान कराई है| अज्ञेय के अत्यंत ही शील भाव का परिचय वहां मिलता है जब वे कहते हैं ऐसा कदापि नहीं है कि उनके इस प्रयास के बिना इन महानुभाव लोगों की स्मृति नहीं बनी रहेगी|

भारत कोकिला (सरोजिनी नायडू)

'स्मृति लेखा' का प्रथम संस्मरण सरोजिनी नायडू से संबंधित है| एक मात्र यह संस्मरण ऐसा है जो साहित्यिक नहीं है| अन्यथा सारे संस्मरण साहित्यिक लेखकों पर आधारित हैं| विभिन्न घटनाओं व प्रसंगों के माध्यम से सरोजिनी नायडू के व्यक्तित्व को बहुत ही सूक्ष्मता के साथ उजागर किया गया है| सरोजिनी प्रखर वक्ता होने के साथ-साथ एक अच्छी कवयित्री भी थी| उन्होंने विदेश में अंग्रेजी में कविता कर विशेष ख्याति अर्जित की थी| इसलिए उन्हें 'नाइटिंगेल ऑफ़ इण्डिया' की उपाधि दी गयी थी, जिसके प्रभाव में भारत में उन्हें 'भारत कोकिला' का विरुद दिया गया| यह विरुद अच्छी कवयित्री होने की वजह से नहीं बल्कि उनके मधुर आवाज के लिए दिया गया था| साथ ही लेखक कहते हैं उन्हें केवल अंग्रेजी का ही व्यापक ज्ञान नहीं था, हिंदी-उर्दू का भी उतना ही ज्ञान था| "उनके स्वर में भी एक जादू था जो अंग्रेजी में ही नहीं, हिंदी-उर्दू में भी सर चढ़कर बोलता है|"[1]

एक प्रसंग के माध्यम से लेखक ने सरोजिनी के प्रखर वक्ता के गुण को उजागर किया है| जहाँ लेखक ने सरोजिनी से जुड़े इस प्रसंग को प्रतिपादित करते समय इससे संबंधित पृष्ठभूमि से हमें अवगत कराया हैं ताकि पाठक को उस प्रसंग व घटना को पढ़ते समय सारी चीजें स्पष्ट हो जाएं | एक स्थान पर लेखक ने सरोजिनी को सम्मलेन में भाषण देते हुए दिखाया है| जहाँ सरोजिनी माइक देखते ही क्रोधित हो जाती है| बिना माइक के हजारों की संख्या में भीड़ को संबोधित करते हुए कहती है-

[1] वही,17

"मेरी आवाज भारत की लाख-लाख जनता तक यन्त्र के सहारे के बिना ही पहुंचेगी|"[1] यहाँ सरोजिनी का प्रखर वक्ता का गुण जाहिर होता है|

स्मरणीय व्यक्ति से संबंधित घटनाओं का उल्लेख करते समय लेखक घटनाओं का इतिवृत वर्णन नहीं करते, वह उसके तह तक जाते हैं| उसकी पृष्ठभूमि से पहले हमें रूबरू कराते हैं| फिर उस घटना का वर्णन करते हैं| जिसके कारण संस्मरण में बिखराव की संभावना कम रहती है| उदाहरण स्वरूप लेखक ने सरोजिनी नायडू और रविन्द्रनाथ टैगोर के मध्य हुए संवादों को ही केवल उद्घाटित नहीं किया है, बल्कि टैगोर के लाहौर आने के उद्देश्य को भी उजागर किया है| जिससे संस्मरण में तारतम्यता बनी रहती है| टैगोर और सरोजिनी के मध्य हुए हल्के-फुल्के संवादों के माध्यम से किस तरह वे सरोजिनी के दबंग स्वभाव और हाजिरजवाबी के गुण को परखते हैं वह तारीफ़े क़ाबिल है| घटना कुछ यूँ थी-

"गुरुदेव के बैठक में प्रवेश करते और पर्दा हटाते हुए उन्होंने द्वार से आवाज दी, 'वेल , गुरुदेव, एंड हाउ आर यू?'...

गुरुदेव भरे बैठे थे| आरामकुर्सी से उठकर नाटकीय ढंग से बाहें फैला कर, सरोजिनी की और बढ़ते हुए, उन्होंने व्यथा भरे स्वर में कहा, "ओह, सरोजिनी, आइ'म डाइंग!

सरोजिनी जहाँ थी वहीं ठिठक गयीं|फिर मधुर ललकार-भरे स्वर में बोली, "वेल, देन, गुरुदेव, वी'ल मीट इन हेवन!"[2]

यहाँ लेखक ने इस प्रसंग के माध्यम से सरोजिनी को एक निडर, दबंग महिला के रूप देखते है-"एक निडर बल्कि दबंग स्वभाव और उसके साथ एक आश्चर्यजनक हाजिरजवाबी, और इन दोनों के साथ सार्वजनिक जीवन के उत्तरदायित्वों का एक गहरा बोध-यह उन के चरित्र की विशेषता थी..|"[3] लेखक अपने चरितनायक की निरे

---

[1] वही, पृ-18

[2] वही, पृ -19

[3]वही,पृ-19

प्रशंसा नहीं करते, उसके पीछे घटित घटनाओं की भी व्याख्या करते चलते हैं| साथ ही उनके ऐतिहासिक ज्ञान का भी परिचय हमें यदा कदा मिलता रहता है|

अज्ञेय पहले अंग्रेज के विरुद्ध होने वाले कई गतिविधियों में शामिल रहे पर 1945 से 1947 के बीच वे ब्रिटिश के सेना में भर्ती हो गए थे, जिसके कारण उनकी काफी आलोचना हुई था| किसी ने उनपर सी.आई.ए का एजेंट होने का आरोप लगता रहा है. उन्हें अंग्रेजी 'दा' की संज्ञा से नवाजा जाता रहा है| सरोजिनी नायडू संस्मरण के पहले अनुच्छेद में लिखते हैं, "अंग्रेजी में कविता करके सरोजिनी नायडू ने विदेश में ख्याति पाई थी और विदेशी ख्याति का इस देश में बड़ा महत्त्व है| हम जानते हैं कि यह महत्त्व था (आज भी है), बड़ा दिखाने वाले मुकुर में जैसे बिम्ब से प्रतिबिम्ब बड़ा दिखने लगता है वैसे ही अंग्रेजी में लिखने वाले भारतीय की प्रतिभासित देशी छवि भी बहुत बड़ी दिखने लगती है|"[1] यहाँ लेखक ने वर्त्तमान में अंग्रेजी के अत्यधिक तवज्जो दिए जाने पर यह बात कहीं हैं| अगर वे सच में अंग्रेजी 'दा' के रूप में प्रसिद्धि चाहते तो वे बहुत ही सहज तरीके से प्राप्त कर सकते थे, अंग्रेजी भाषा पर उनका प्रबल अधिकार था, परन्तु उन्होंने हिन्दी में लिखा और विदेशों में भी सम्मान पाया| पर यहाँ लेखक ने सरोजिनी के ऊपर कोई कटाक्ष नहीं किया है, उन्होंने एक समान्य सी बात कही है जो उस समय और आज भी लागू होती है| वे सरोजिनी को काफी आदर भाव से देखते थे, उनसे काफी प्रभावित थे, क्योंकि उनमें भाषा का संस्कार था| स्वर में एक साथ माधुर्य और तेज दोनों था| जब सरोजिनी ने उनकी शारीरिक डीलडौल की तारीफ़ की तो है तो अभिमान से फूले नहीं बल्कि अपनी ही तरह के डीलडौल वाले निराला को स्मरण करते हैं|

राष्ट्रकवि

प्रस्तुत संस्मरण में लेखक ने बड़े ही आदर भाव से गुप्त जी का व्यक्तित्व का उकेरा है| अज्ञेय गुप्त जी को दद्दा कह के संबोधित करते थे| बाल अवस्था से ही गुप्त जी के

[1]वही,पृ-17

साहित्यों में उनकी रुचि रही है, उनके साहित्यों पढ़ कर वे बड़े हुए| वे स्वीकार करते हैं की उनके साहित्यिक दृष्टिकोण के निर्माण में गुप्त के रचनाओं का उल्लेखनीय योगदान रहा है| उनके ही शब्दों में-" 'नीलाम्बर परिधान हरित पट पर सुन्दर है' आदि से हिंदी काव्य से और देशभूमि से परिचित हुआ; फिर जयद्रथ-वध और पंचवटी के माध्यम से भारतीय वाङमय और परंपरा के आकर-ग्रंथों से परिचित हुआ|"[1]शायद यही कारण रहा है कि लेखक ने गुप्त जी को गुरु माना है|

सामन्यतः अज्ञेय के विषय में यह बात प्रचलित है कि वह कम बोलते हैं,संकोची प्रवृति के हैं, पर इस संस्मरण के एक प्रसंग में इस भ्रम को वे तोड़ते हैं, गुप्त जी के साथ प्रथम भेंटवार्ता में ही अज्ञेय और गुप्त जी वार्तलाप में ऐसे लीन हुए कि रात के दो कब बज गए दोनों को पता नहीं चला, हालांकि ये दोनों की यह पहली मुलाक़ात थी, गुप्त जी का यह सहज व्यवहार ही था जहाँ अज्ञेय जैसे इतने संकोची प्रवृति के व्यक्ति इतने कम समय में खुल गएं -... " 'ब्यालू' के बाद दद्दा ने अपने भईयों को और मुंशी अजमेरी को पास बिठाकर मुझ से जेल-जीवन की और उससे पहले की क्रांतिकारी गतिविधियों की बातें सुननी चाहीं तो मैं रात दो बजे तक उन्हें उस जीवन के संस्मरण सुनाता रहा.....बल्कि रात दो बजे के बाद दद्दा ने ही कहा , "अब तुम थक गए होगे , विश्राम कर लो| हमारा तो जी नहीं भरा, लेकिन अभी तो कल भी सुनेंगे|"[2] वास्तविकता तो यह है लेखक का दायरा बहुत सीमितहै, वे बहुत कम लोगों से घुलते मिलते हैं, पर जिनसे वे करीब होते हैं उनके लिए प्रति क्षण प्रस्तुत रहते हैं| इस तरह इस कृति में स्मरणीय व्यक्ति के साथ-साथ संस्मरणकार का व्यक्तित्व भी उजागार हुआ है|

आगे लेखक ने गुप्त जी के एक बहुत ही अद्भुत रूचि से हमलोगों परिचय कराया है वह है मशीनों का संग्रहण| गुप्त जी को मशीनों का काफी शौक था मशीनें पुरानी हो या नई, उसका संग्रह करना विभिन्न रुचियों में से एक था|

---

[1]वही, पृ-22

[2]वही, पृ-23

गुप्त जी का लेखक के विचारों, रचनाओं से चाहे कितना भी विरोध क्यूं न रहा हो पर इसका प्रभाव उन्होंने अपने संबंधों पर कभी आने नहीं दिया| लेखक ने इसका उदाहरण इस प्रसंग के माध्यम से दिया| जब 'शेखर: एक जीवनी' प्रकाशित हुई थी और उसकी एक प्रति गुप्त जी को भेजी गयी थी| यद्यपि लेखक पहले से ही जानते थे कि गुप्त जी को इस उपन्यास में कुछेक प्रसंग बुरे लगेंगे क्योंकि गुप्त जी बहुत पारंपरिक व्यक्ति ठहरे, उनके और लेखक के विचार करने के दृष्टिकोण में काफी अंतर है| हुआ भी कुछ ऐसा ही| बाद में जब लेखक उनसे मिलकर लेखक ने 'शेखर: एक जीवनी' के ऊपर उनकी राय मांगी, इस पर गुप्त जी कहते हैं- "आप तो जानते हैं, हमारे संस्कार जैसे हैं, उस में ऐसी सब बातें हम को सहन नहीं होती- बिलकुल असह्य जान पड़ती हैं|"[1] 'शेखर एक जीवनी' उपन्यास को लेकर आगे भी लेखक के ऊपर अश्लीलता का आरोप लगता रहा है| एक सभा में जहाँ गुप्त जी अध्यक्षता के लिए बुलाया गया था, वहां भी अज्ञेय पर इस सम्बन्ध में आलोचना होने लगी, जिसका गुप्त जी ने पूरा बहिष्कार किया और सभा छोड़कर चले गए|

लेखक गुप्त जी के हरेक छोटी-बड़ी रुचियों, चाहे वह रूचि मशीनों की हो या खिलौने की या फिर बासी पूरी की, पर चर्चा करते हुए अंतत: उनकी लेखनी पर ही पहुँचते हैं| संस्मरण में यदा कदा उनके रचनाओं, साहित्य के प्रति उनके दृष्टिकोण को रेखांकित किया गया| लेखक उनके द्वारा परम्परा को बिना तोड़े आधुनिक होने पर उनकी सराहना करते हुए कहते हैं- "परम्परा को तोड़े बिना कैसे आधुनिक हुआ जा सकता है, इसका उदाहरण हिन्दू से लेकर यशोधरा तक की उनकी काव्य-यात्रा प्रत्यक्ष दिखाती है-बल्कि वह यह भी दिखाती है कि परंपरा को तोड़े बिना कैसे आप्त करते हुए उससे मुक्त हुआ जा सकता है| गुप्त जी को मैंने प्रसन्न आधुनिक इसलिए कहा था ; आधुनिकता को बहुत से लोग खंडित व्यक्तित्व और संत्रास के साथ जोड़ते हैं, लेकिन दद्दा लगातार उस रेखा पर जीते थे..."[2] इस प्रकार लेखक ने एक लेखक को देखा है इसमें कोई दो राय नहीं है|

---

[1]वही, पृ-29

[2]वही,पृ-33

स्मरण का स्मृतिकार

यह संस्मरण रायकृष्णदास से सम्बंधित है| इसमें लेखक ने उनके सांस्कृतिक और कला के क्षेत्र में योगदान पर चर्चा करते हुए उन्हें बहुमुखी प्रतिभा का धनी बताया है| अज्ञेय रायकृष्णदास के व्यक्तित्व से काफी प्रभावित थे| लेखक के से शब्दों में-" न ऐसी दूसरी स्मृति आज इस देश में हैं, न ऐसा दूसरा व्यक्तित्व यहाँ ढूंढे मिलेगा|"[1]लेखक की उनसे मुलाक़ात उनके पिता के माध्यम से भारतीय पुराविदों के महासम्मेलन में हुई|जहाँ सभी लोग रायकृष्ण दास को 'सरकार जी' कहके संबोधित कर रहे थे| चूँकि लेखक क्रांतिकारी स्वभाव के थे, तो उनके लिए यह संबोधन थोड़ा अटपटा लगा, क्योंकि लेखक तत्कालिक राजनितिक परिवेश से अत्यधिक असंतुष्ट थे एवं सरकार के प्रति उनमें आक्रोश का भाव व्याप्त था, परन्तु जेल के एकांतता से और तीखे हो गए उनके संवेदन शीघ्र ही पहचान जाते हैं कि यह सरकार और सरकार जी काफी अंतर है| सरकार जी का तात्पर्य परिवार के मुखिया से है| यहाँ लेखक ने अपने अन्दर आई परिवर्तन को बहुत ही सूक्ष्मता से इंगित करते हैं कि किस प्रकार जेल की एकांतता ने उनके संवेदन का विकास किया है, अब पहले की तुलना में और भी व्यापक दृष्टिकोण से चीजों के देखने, समझने लगे हैं|

लेखक की दृष्टि में रायकृष्ण दास जी केवल संगीत कला, काव्य कला, चित्रकला के साधक नहीं थे बल्कि उनके जीवन की साधना ही कला की साधना रही है| लेखक के लिए भले ही उनके प्रथम गुरु मैथिलीशरण गुप्त जी रहे हैं, भले ही उनका प्रथम संस्कार गुप्त जी के काव्यों से हुआ हो पर इसके बावजूद भी बहुत चीजों को लेखक ने रायकृष्ण दास जी प्राप्त किया जिसकी कोई तुलना नहीं की जा सकती है, " मेरे ही गुरुस्थानीय स्व. मैथिलीशरण गुप्त थे, जिनकी रचनाओं से काव्य का पहला संस्कार मुझे मिला; लेकिन इसके बावजूद मुझे सरकार जी से जितना प्राप्त हुआ और जितनी तरह का प्राप्त हुआ उसकी कोई नाप मेरे पास नहीं है| क्योंकि

[1]वही, 35

सरकार जी अगर 'कला-साधक' थे तो चित्र कला, संगीत कला या काव्य-कला तक ही सीमित नहीं थे; उन की साधना जीवन की कला की साधना थी|"[1]

रायकृष्ण दास के कला के प्रति निष्ठा का पता वहां चलता है जब वे अपने निधन के समय भारत कलाभवन के लिए अज्ञेय से लल्लू लाल कृत रचना 'प्रेमसागर' की प्रति मांग रहे होते हैं| जिसे लेखक ने एक बहुत ही मार्मिक प्रसंग के माध्यम से उद्घाटित किया है| लेखक के अनुसार रायकृष्ण कला-पारखी और आर्ट हिस्टोरियन ही केवल नहीं थे बल्कि उन्हें औपचारिक शिक्षा के बिना भी वे धर्म और दर्शन, इतिहास और पूरण, साहित्य और कला, भाषा और लोक-व्यवहार आदि क्षेत्रों का अद्‌भुत ज्ञान था| इस सबसे ऊपर वे सच्चे सहृदय सामाजिक थे| उन्होंने अपनी रईसी तो छोड़ थी पर अपने शील और संस्कारवान चरित्र को छोड़ा नहीं सके थे| कितनी भी कठिन से कठिन परिस्थितयों में उनके माथे पर कभी चिंता की रेखा लेखक ने नहीं देखी|

लेखक केवल उनके व्यक्तित्व की चर्चा भर कर के रह जाए ये कैसे हो सकता था| जैसा कि पहले ही उल्लेख किया गया है कि लेखक प्रस्तुत आलोचनात्मक संस्मरण में केवल स्मरणीय व्यक्ति के व्यक्तित्व को ही नहीं उभारते हैं बल्कि उनके कृतित्व की भी चर्चा करते हैं| हालंकि राय कृष्ण दास जी साहित्य के क्षेत्र में उनके योगदान को इंगित नहीं किया गया है पर लेखक ने गद्य गीतों में उनके अद्वितीय योगदान को पहचाना है| लेखक के अनुसार रायकृष्ण दास का गद्य के विकास में एक विशिष्ट स्थान रहा जिसके कारण हिंदी गद्य को एक मंजाव तथा निखार मिला, कलालोचन को उन्होंने एक समर्थ तथा सुक्ष्मग्रही भाषा दी है साथ ही साथ परम्परा से प्राप्त शब्दावलियों का प्रयोग कर उनमें प्राण फूंक दिए हैं, विभिन्न कला शिल्पों से संबंधित पारंपरिक शब्दों को उन्होंने अपने रचना में उबारा है, इसमें देशज-विदेशज शब्दों का भी सम्मिश्रण होता चला है| इसी बीच लेखक उनका और आज के नवयुवक साहित्यकारों की तुलना करते हुए कहते हैं किस प्रकार आज की पीढ़ी

[1]वही, पृ-38

अंग्रेजी शब्दावली अनुवाद कर उसका अंधाधुंध प्रयोग करते हैं, जिससे लेखक को वितृष्णा थी|

जीवनपर्यंत रायकृष्ण दास कला की साधना करते रहे इसी में उनके जीवन की सार्थकता थी| भारतीय चित्रकला तथा भारतीय मूर्तिकला में उनके योगदान को आँका नहीं जा सकता है| काव्य, गद्य विधा में इतना गूढ़ ज्ञान था कि मैथिलीशरण, महादेवी प्रसाद, जयशंकर प्रसाद सभी उनसे अपने किसी भी पुस्तक के प्रकाशन के पूर्व राय सलाह लेते थे| गुप्त जी की 'भारत-भारती' उनके विस्तृत संशोधनों के बाद ही छपी तो निराला के तुलसीदास की भूमिका भी उन्होंने लिखी| लेखक तो यहाँ तक कहते हैं कि आज सरकार जी एक प्रसिद्द कवि के रूप में हमारे सामने होते, अगर वे गुप्त जी तथा प्रसाद जी के अन्तरंग मित्र एवं बीच की कड़ी न होते| लेखक के अनुसार कविता तनाव की उर्जा मांगती है और रायकृष्ण दास जी की उर्जा दोनों कवियों के तनाव को हल करने में व्यय हो गयी| इस प्रकार लेखक रायकृष्ण दास के व्यक्तित्व को राजनैतिक, धार्मिक, दार्शनिक, उपन्यास मानवतावादी, साहित्यिक, कलात्मक परिप्रेक्ष्य में देखते हैं तथा राष्ट्रीय स्मृति कहते हैं|

उपन्यास सम्राट

प्रस्तुत संस्मरण लेखक प्रेमचंद से संबंधित है| अज्ञेय ने प्रथम अनुच्छेद में ही प्रेमचंद को उपन्यास सम्राट कहे जाने पर आपत्ति जताई हैं| अज्ञेय को लगता है कि क्या यह साम्राज्य इतना छोटा है जिसका सर्वोपरि आसन् उन्हें दिया जा रहा है| यह पद प्रतिस्पर्द्धा के भाव का प्रदर्शन करता है, जबकि प्रेमचंद का साहित्य में सदैव लोक-मंगल की कामना, राष्ट्रीयता तथा साम्राज्यवाद के विरोध रहा है, प्रेमचन्द साहित्य में प्रतिस्पर्द्धा के भाव से नहीं आए थे और अपने रचनाकाल के अंत तक कभी उन्होंने अपने कर्म को इस दृष्टि से नहीं देखा| उन्होंने साहित्य रचना को हमेशा से साधना के रूप में स्वीकार किया है| उन्होंने कभी अपने रचना कर्म को प्रतिस्पर्धी दृष्टिकोण से नहीं देखा है| अंत तक वे रचना कर्म में साधना को महत्त्व देते रहे| एक प्रसंग के माध्यम से लेखक ने इसे उद्घाटित किया है जहाँ तीन युवतर साहित्यकार प्रेमचंद जी

का इंटरव्यू लेने हेतु आए थे| प्रेमचंद जी से कई सवाल-जवाब के बाद जब उन साहित्यकारों ने पूछा कि आप तो अनुभवी लेखक हैं, बुजुर्ग हैं, हम जैसे युवा साहित्यकारों के लिए क्या सन्देश देना चाहेंगे, इस पर प्रेमचंद जी उत्तर देते हुए कहते हैं –"सन्देश मेरा क्या होगा! सन्देश देना तो ऋषियों तथा नेताओं का काम होता है| मैं तो साधारण लेखक हूँ लेकिन अनुभव की बात आप पूछते हैं तो यह कह सकता हूँ कि साहित्यकार ले लिए साधना का महत्त्व होता है|"[1]

प्रेमचन्द का अज्ञेय के जीवन में अन्यतम स्थान रहा है, क्योंकि वात्स्यायन को अज्ञेय में परिवर्तित करने वाले प्रेमचंद जी ही थे| अज्ञेय जब जेल में रहकर कहानियां लिख रहे थे और अपनी कहानियों को सुरक्षित रखने का कोई माध्यम नहीं मिल रहा था क्योंकि जेल में लिखी हुई प्रतियाँ जब्त हो सकती थी, तब लेखक ने उसे जेल से बाहर प्रकाशित होने के लिए जैनेन्द्र के पास भेजा, तभी प्रेमचंद ने 'जागरण' पत्रिका का आरम्भ किया ही था, जैनेन्द्र ने वो कहानियां प्रेमचंद के पास भेज दी, प्रेमचंद को दोनों कहानियां पसंद आई, प्रेमचंद द्वारा लेखक का नाम पूछे जाने पर जैनेन्द्र ने कहाँ, मैं उसका नाम नहीं बता सकता, अज्ञेय हैं| प्रेमचन्द ने फिर दोनों कहानियां बिना कुछ सोचे समझे अज्ञेय नाम से छाप दी| हालांकि लेखक को इससे काफी वितृष्णा हुई| खैर बाद में लेखक ने भी इसे स्वीकार कर लिया| कहानियाँ तो प्रेमचंद जी को अज्ञेय की काफी पसंद थी पर कविता एकदम नहीं| एक प्रसंग के माध्यम से यह भी पता चला कि प्रेमचंद को अज्ञेय की कविआएं कभी पसंद नहीं आई, अज्ञेय ने जेल से दर्जनों कविताएं प्रकाशन हेतु भेजी, पर प्रेमचन्द ने इसका कभी उल्लेख किया नहीं| एक बार अज्ञेय ने अपनी कविताओं को प्रकाशन हेतु केवल उनपर विचार प्रकट करने हेतु भेजा, प्रेमचंद का जवाब कुछ यूँ था -"भाई अज्ञेय ,

मुझे तो कविता ऐसी पसंद है जैसा इकबाल का यह शेर:

जिस खेत के दहकां को मयस्सर न हो रोटी

[1]वही-पृ-44

उस खेत के हर गोश-ए–गंदुम को जला दो|"[1]

यहाँ प्रेमचन्द का निर्भीक व्यक्तित्व सामने आता है, प्रेमचंद को लेखक की कवितायेँ कभी पसंद नहीं थी, इस पर उन्होंने कोई लाग-लपेट न कर उसे सीधे-सीधे कह दिया|

लाहौर आर्यसमाज सम्मेलन तथा लखनऊ प्रगतिशील सम्मेलन में उन्होंने पहले से भाषण लिखा था| मगर उसे पढ़ा नहीं क्योंकि उन्हें लग रहा था कि उनके विचारों का सम्मान नहीं, उन विचारों का इस्तेमाल कर लेने की कोशिश होती है| अगर प्रेमचन्द अज्ञेय को अपना विश्वासपात्र व अन्तरंग न मानते समझते तो क्या ऐसी अंतरंग व्यथा उनसे साझा करते ? इसे पाठकों के साथ साझा करने के बाद लेखक प्रेमचन्द के व्यक्तित्व का विश्लेषण न करके एक निचोड़ में कहते हैं, "प्रेमचन्द को राजनीतिक महत्वाकांक्षा छू भी नहीं गई थी| क्योंकि राजनीतिक महत्वाकांक्षा से अछूता व्यक्ति ही ऐसा कर सकता है| मानव में उनका अखंड विश्वास और मनुष्य मात्र के प्रति उनकी अगाध करुणा ही उनके भोलेपन की आधारशिला थी और वह भोलापन प्रणम्य है| भोलापन अपने आप में एक किस्म की बादशाहत है| उपन्यास सम्राट का विरुद यहाँ अर्थहीन हो जाता है वहाँ भी प्रेमचन्द इस अर्थ में तो सम्राट ही रहे!"[2]

अज्ञेय के अनुसार प्रेमचन्द ने एक साहित्यकार के नाते खुद को सदैव एक जागृत नीतिप्रण सामाजिक चेतना के रूप में ही देखा| एक सिपाही के रूप में नहीं| वे सिपाही से बड़े हैं| क्योंकि योद्धा पिछड़ भी जाता है, लेकिन जागृत आत्मा कभी नहीं पिछड़ती है| उनके लिए साहित्य का बुनियादी मूल्य संघर्ष नहीं बल्कि संवेदन था या उसे और भी सटीक नाम दे तो महाकरुणा था|

आगे लेखक ने प्रेमचंद के साहित्य की विस्तारपूर्वक चर्चा की है, लेखक के अनुसार प्रेमचंद के पात्र का आत्मप्रकाशन कम था, इनके पात्र आंशिक रूप गढ़े हुए होते थे, मुख्यतः सांचे में ढले हुए होते थे| इसी कारण प्रेमचंद ने इतने स्मरणीय पात्र

---

[1]वही, पृ-47

[2]वही,पृ-49

नहीं दिए जितने कि डिकेंस ने| दोनों की तुलना करते हुए लेखक कहते हैं दोनों के साहित्य में चरित्रों की बहुलता होते हुए भी डिकेंस के पात्र अधिक स्मरणीय रहें, इसका कारण वह मानते थे कि डिकेंस मानवीय सत्य को प्रस्तुत करते थे और प्रेमचन्द सामजिक सत्य को, इसलिए डिकेंस के चरित्र प्रेमचंद के चरित्रों की तुलना में अधिक स्थायी हैं| भले ही प्रेमचन्द के पात्र उतने प्रभावी न रहे उनका कथानक, विषय-वस्तु काफी प्रभावी रहा है| प्रेमचंद के सम्बन्ध में भारतीय समाज की अवधारण स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि भारत का समाज शायद संसार का सबसे जटिल समज है फिर भी प्रेमचंद ने इन संबंधों, आश्यकताओं, निष्ठाओं का निरूपण इतने सरल-सहज शब्दों में किया है कि शायद ही किसी ने किया हो| इसी क्रम में लेखक कहते हैं कि प्रेमचंद का पाठक कोई भी वर्ग हो सकता है, समान्य वर्ग से लेकर पढ़ा प्रबुद्ध वर्ग भी|

प्रेमचंद में लेखनी के प्रति विलक्षण निष्ठा है| आगे लेखक ने प्रेमचन्द ई रचना-यात्रा करते हुए कहा है-"अंग्रेजी उपन्यास ने डिकेंस से लेकर गाल्स्वर्दी तक जीतना क्षेत्र पार किया था, प्रेमचन्द ने अपने सर्जक जीवन में अकेले पार कर लिया| इस रूप में प्रेमचन्द केवल एक उपन्यासकार नहीं हैं बल्कि आधुनिक उपन्यास के लिए एक पूरी परम्परा है|"[1] यहाँ लेखक ने प्रेमचन्द को उपन्यास सम्राट के स्थान पर एक परम्परा के रूप में देखा है| इसी तरह अज्ञेय की मान्यता है कि साहित्य के क्षेत्र में विरासत का कोई अर्थ नहीं होता है| साहित्यकार का न तो कोई वली होता है न कोई वारिस| उनकी दें समग्र मानवता हेतु होती है, वे इस देन को परम्परा से जोड़ते हैं| प्रेमचंद का मुख्या आव्दान उनकी मानवीय संवेदना उन्हें आगे चल कर रेणु और नागर में दिखती हैं| इस प्रकार अज्ञेय ने प्रेमचंद के सहिया का बड़ा ही सूक्ष्म विश्लेषण किया है|

वसंत का अग्रदूत

यह आलोचनात्मक संस्मरण निराला से संबंधित है| संस्मरण के प्रथम अनुच्छेद में लेखक ने निराला संबंधित एक प्रसंग को उजागर किया है जहाँ लेखक ने

[1] वही, पृ.55

'विश्वभारती' नामक एक पत्रिका में एक लम्बे लेख के माध्यम से निराला के काव्य के प्रति अवज्ञा का भाव दर्शाया था, उस समय बनारसीदास चतुर्वेदी निराला के विरुद्ध थे, उन्हीं के प्रभाव से प्रारम्भ में अज्ञेय के मन में भी निराला के प्रति नकारात्मक विचार थे और इसे उन्होंने अपने लेख में प्रकट किया था| निराला के काव्य के प्रति अवज्ञा का भाव काफी दिनों तक बना रहा, उनके दृष्टिकोण में परिवर्तन तब आया जब उन्होंने 'तुलसीदास' को पढ़ा, तब वे महाकवि को पहचान सके और अपनी इस भूल का परिमार्जन इस आलोचनात्मक संस्मरण करते हैं| दूसरी भूमिका में लेखक ने विशेष रूप से इसकी व्याख्या की है| निराला की कृति 'तुलसीदास' की प्रशंसा करते हुए कहते हैं-"तुलसीदास जब-जब पढ़ने बैठता हूँ तो.....एक नया संसार मेरे सामने खुलता है, उस से भी विलक्षण यह है कि मानों एक ऐतिहासिक अनुक्रम में घटित होता हुआ दीखता है|.....विरली ही रचना ऐसी होती है जिस में एक सांस्कृतिक चेतना सर्जनात्मक रूप में अवतरित हुई है|"[1] यही कारण रहा है 'तुलसीदास' काव्य के माध्यम से अज्ञेय के दृष्टिकोण में निराला के प्रति भाव में परिवर्तन हुआ| यहाँ लेखक का एक और व्यक्तित्व उभरकर कर सामने आता है कि वह है स्वीकारोक्ति का गुण| उन्हें पता है कि मनुष्य होने के कारण भूल करना स्वाभाविक है| कभी यह अज्ञानवश हो जाती है तो कभी यह जानबूझ कर|

आगे वे निराला के व्यक्ति रूप और कवि रूप दोनों पर गंभीरतापूर्वक विचार करते हैं| निराला के व्यक्तित्व के भीतर कारुण्य की धारा सदैव बहा करती है, जिसे हम उनके रचनाओं में भी देख सकते हैं| प्रसंगों व घटनाओं के माध्यम से लेखक ने निराला के गूढ़ ज्ञान से अवगत कराया है| एक प्रसंग में निराला ने संगीत स्वर और शब्द स्वर में सूक्ष्म और महत्वपूर्ण अंतर को स्पष्ट किया है| वे लेखक को कहते हैं हमने हमेशा संगीत स्वर को महत्त्व दिया और तुम्हारे सामने हमेशा बोल-चाल की भाषा का स्वर रहता था| यहाँ निराला ने अपनी पीढ़ी और परवर्ती पीढ़ी में बहुत ही बारीक़ अंतर को पहचाना है|

[1]वही-62

निराला के व्यक्तित्व में कारुण्य भाव के साथ एक गुण और था वह है आतिथ्य भाव का| इसे एक प्रसंग के माध्यम से लेखक ने दिखाया है जब वे और शिवमंगल सिंह सुमन निराला से बेसमय मिलने गए और निराला ने अपनी चिंता किए बिना अपना भोजन उन्हें खिला देते हैं| "निराला के लौटने तक हम दोनों रुके रहे| यह क्लेश हम दोनों के मन में था कि निराला जी अपने लिए जो भोजन बना रहे थे वह सारा का सारा उन्होंने हमारे सामने परोस दिया है और अब दिन-भर भूखे रहेंगे| लेकिन मैं यह भी जानता था हमारा कुछ भी कहना व्यर्थ होगा-निराला का आतिथ्य ऐसा ही जालिम आतिथ्य है|"[1] आगे लेखक ने उन श्रेष्ठ काव्य वाचक के रूप में स्वीकारते हैं- "प्राचीन काल में काव्य वाचक जैसे भी रहे हों, मेरे युग में तो निराला जैसा काव्य-वाचक दूसरा नहीं हुआ|"[2]

निराला और लेखक के पूरे संवाद में 'निराला इज डेड' की बार-बार आवृति निराला के विषाद को दर्शाती हैं, अकेलेपन ने उन्हें अन्दर तक झकझोर दिया है| यही विषाद का भाव उनकी कविता–'सरोज स्मृति', 'तुलसीदास', 'राम की शक्तिपूजा' में निदर्शित होती है| लेखक के शब्दों में-"...अर्चना और उस के बाद की कविताओं में हताश अवसाद का जो भाव छाया हुआ दीखता वह तत्कालीन प्रतिक्रिया का नहीं, जीवन के दीर्घ प्रत्यावलोकन का परिणाम है जिस से निराला जब-तब उबरते दीखते हैं तो अपने भक्ति गीतों में ही.."[3]

स्वर-सिद्ध (सुमित्रानंदन पन्त)

छायावाद के प्रमुख स्तम्भ एवं प्रकृति के सुकुमार कवि पन्त पर लिखा गया यह संस्मरण उनके व्यक्तित्व के विभिन्न पहलुओं को उजागर करता है| लेखक का पन्त जी के साथ जुड़ी कई स्मृतियां हैं| कुछ स्मृतियाँ अल्मोड़ा में विभिन्न सैरों की हैं| पन्त जी से इनका परिचय नरेन्द्र के माध्यम से अल्मोड़ा में हुआ, इससे पहले भी लेखक पन्त

[1]वही, पृ-64

[2]वही,पृ-70

[3]वही

जी से मिल चुके थे पर वह मुलाकात औपचारिक थी| पन्त जी स्वभाव से काफी संकोची प्रवृति के रहे हैं, किसी अपरिचित का उनसे खुलकर और निकट वार्तालाप तभी संभव हो पता है जब कोई तीसरा व्यक्ति भी वहां उपस्थित हो-वो भी उनका स्नेहभाजन| उनका यह स्वभाव किसी नए संपर्क हेतु सुपरिचित सहारे की मांग करता है| इसी वजह से लेखक नरेन्द्र को अपने साथ लेकर चलते हैं|

प्रस्तुत संस्मरण में पन्त जी का बहुत संवेदनशील व्यक्तित्व मुखर हुआ है| एक प्रसंग में लेखक, पन्त जी, और नरेन्द्र अल्मोड़ा के वनों में वर्षा के बाद घूम रहे होते हैं, उस समय पन्त जी काफी उदास रहा करते थे, इसलिए लेखक उनके थोड़े मनोरंजन के लिए उन्हें लेकर सैर पर निकलते हैं और प्रकृति अपनी अप्रतिम छटा बिखेरे हुई थी, बारिश के बाद धुप में एकाएक सुनहली हो कर पुनः कोहरे में खो जाने वाले बूंदों को देख पन्त जी एकदम द्रवित हो उठते हैं और कहते हैं –"जग के उर्वर आँगन में बरसों ज्योतिर्मय जीवन!' बताइये, है कि नहीं ठीक बात? और लोग पूछते हैं कि ज्योतिर्मय जीवन कैसे बरसता है! ठीक ऐसे ही बरसता है ..... उनकी उंगली देर तक उस धुप, उस के निचे की धुंध और धुंध में से झांकती हुई हरियाली की ओर इंगित करती हुई और अपने आशय पर बल देती हुई हिलती रही| फिर उन का हाथ नीचे गिरा और फिर दोनों हाथों से उन्होंने एक लहराता हुआ धीरे-धीरे शुन्य में खो जाने वाला इशारा किया.."[1] यहाँ पन्त का प्रकृति के प्रकृति के प्रति अगाध प्रेम और गहरे संवेदनशील संबंध का प्रतिपादन तो होता ही है उसके साथ उनकी सूक्ष्म पर्यवेक्षण दृष्टि का भी पता चलता है, कितनी सूक्ष्मता से उन्होंने प्रकृति भिन्न रूपों को देखते हैं| साथ यहाँ पन्त जी पर हुए ह्रदयहीन आलोचनाओं का भी पता चलता है, जिसका उल्लेख दूधनाथ सिंह ने अपनी रचना 'लौट आ ओ धार' में भी किया है| यहाँ लेखक ने पन्त जी के प्रकृति के साथ और दूसरी और भाषा के साथ घनिष्ठ संबंध की प्रसंशा करते हुए लिखते हैं- "सूक्ष्म पर्यवेक्षण और भी कवि करते हैं, लेकिन उसे उतनी समर्थ संवेदनमयी और संप्रेषी भाषा में मूर्त करने वाले कवि विरले ही होते हैं|"[2]

---

[1]वही, पृ-75

[2]वही,पृ. 74

लेखक के अनुसार पन्त जी जितने शब्द ध्वनियों के प्रति सचेत दिखाई पड़ते है, उतनी सजगता उनके समकालिक कवियों में कहीं नहीं दिखती है, लेखक के शब्दों में-"काव्य में शब्द संगीत का आधार व्यंजन ध्वनियाँ नहीं बाकि स्वर ध्वनियाँ है, इसकी अचूक पहचान पन्त जी को थी और आधुनिक हिंदी काव्य को यह उनकी बहुत बड़ी देन है कि उन्होंने अपने समकालीन और परवर्ती कवियों को स्वर-सौन्दर्य की पहचान करा दी|"[1] 'विणा' से 'गुंजन' तक पन्त जी ने स्वर-मैत्री को गेयता का मुख्य आधार बनाया है, जिसमें तुकंतता का महत्वपूर्ण योगदान है| यही वजह है कि अज्ञेय ने पन्त सच्चे अर्थों में स्वर-सिद्ध कहा है|

यदाकदा संस्मरण में पन्त जी के तुनुकमिजाजी तथा दुसरों के प्रभाव में जल्दी आ जाना अर्थात कान के कच्चा होना आदि स्वभाव का भी परिचय मिलता| एक बार लेखक ने पन्त जैसे श्लाका पुरुष के सम्मान में एक ग्रन्थ भेंट करने की सोची, यह ग्रन्थ निरी प्रशस्तियों का संग्रह न हो इसलिए लेखक ने इसमें पन्त के हिंदी काव्य में उनकी देन का संदर्भयुक्त मूल्यांकन प्रस्तुत करने की सोची| पाण्डुलिपि तैयार होने पर लेख ने इसे राष्ट्रपति के सम्मुख राष्ट्रपति भवन में पुस्तक भेंट करने की सोची| जिसके लिए राष्ट्रपति तथा पन्त दोनों से सहर्ष अनुमति मिल गयी| मगर इस कुछ लोग इस बात से दुखी हो गये कि पन्त का सम्मान वो भी राष्टपति भवन में| कुछ लोगों ने पन्त जी को अज्ञेय और 'नई कविता' के समर्थकों का षड्यंत्र कहा क्योंकि अज्ञेय तथा 'नई कविता' के समर्थक अपने आन्दोलन के संवर्द्धन में उनका उपयोग करना चाहते हैं| पन्त जी उनके बहकावे में आ कर समारोह में आने से इनकार कर देते हैं, यहाँ उनके कान के कच्चे होने के प्रकृति का परिचय मिला है| हालाँकि कि बाद में लेखक द्वारा पुनः कहे जाने पर आते हैं, पर इस प्रकार तुनुकमिजाजी का परिचय और भी कई जगह दिया| लेखक इसका कारण उनका अत्यधिक संवेदनशील होना मानते हैं| इस प्रकार लेखक ने पन्त जी के सूक्ष्म पर्यवेक्षी दृष्टिकोण तथा संवेदनशील संप्रेषी भाषा हेतु हिंदी का कालिदास कहा है|

[1]वही,पृ-78

कवि-वत्सला

प्रस्तुत आलोचनात्मक संस्मरण में लेखक ने होमवती के व्यक्तित्व को उजागर करने प्रयास किया है, यद्यपि उनके हिंदी साहित्य में योगदान को भी लक्षित किया गया है पर यहाँ उनके मुख्य लक्ष्य होमवती के सहज, शील, संस्कारित व्यक्तित्व का उद्घाटन करना था| लेखक बहुत कम व्यक्तियों से खुलते थे जिनमें से एक होमवती जी भी थी| होमवती के सहज व्यक्तित्व को लेखक शब्दों में- "असल में उनके स्नेह में कुछ ऐसा गुण था जो उसे एक सहज स्वयं सिद्ध सम्पूर्णता दे देता था; उससे हृदय भर भी जाता था और हाथ-पैर बंधते भी नहीं थे- आजीवन उस की छांह में भी रह जाया जा सकता था, और सहज भाव से उठ कर कभी भी चल भी दिया जा सकता था| मैं नहीं सोच पाता कि इस से अधिक बड़ी बात उन के सम्मान में क्या कह सकता हूँ : मैंने उन्हें बहुतों को अपने स्नेह की परिधि में अपनाते देखा..."[1] यहाँ लेखक होमवती के सहज एन वत्सल गुण को उकेरा है| होमवती जी के इस वत्सल गुण में अनेक लोग आ जाते हैं, यह स्नेह केवल लेखक के प्रति नहीं है| वह सभी के लिए है| उनका स्नेह व्यक्तिनिरपेक्ष था, वह जिन्हें भी अपनाती थी स्वायत भाव से अपनाती थी|

लेखक का होमवती जी से पहली बार परिचय कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' के माध्यम से नोचंदी मेले के गल्प सम्मलेन में हुआ था और परिचय होने पर वह अज्ञेय से उम्र में बड़ी होने के बावजूद भी पैरों की और झुकती हैं, लेखक के अनुसार यह विनय औपचारिक नहीं था, वह दूसरों का सम्मान करना जानती थी| उनके अन्दर आतिथ्य का भाव कूट-कूट कर भरा था| उनके आतिथ्य भाव को देख लोग उन्हें लोग काफी सम्पन्न परिवार समझते थे, पर ऐसा कदापि नहीं था, वो जिसे अपना मान लेती थी उनको निबाहना अपना कर्तव्य समझती थी| और इसके लिए उन्हें काफी कष्ट भी उठाने पड़ते थे|इस पर लेखक कहते हैं- "लेकिन सामजिक व्यवहार को निबाहने के लिए चलने वाली इस आतिथेया की उदार मुख-मुद्रा कैसा गंभीर अंतर्मंथन और चिंता

[1]वही, पृ-83

छिपाये है, यह अतिथि प्रायः नहीं लक्ष्य करते थे|"[1] इसी क्रम में कुछेक स्थानों पर लेखक होमवती जी की रचनात्मक व्यक्तित्व को उभारते हैं| लेखक के अनुसार होमवती जी के कहानियों में उनके व्यक्तित्व एवं आचरण की स्पष्ट छाप मिलती है जैसे-घरेलू वातावरण, गहरी आत्मीयता, आद्र करुणा नारी के स्वाभिमान से सहज सहानुभूति और अन्याय के प्रति सहज आक्रोश इत्यादि| कुछेक उपन्यास भी लिखा पर वह भी अधूरा ही| उनके काव्य में वात्सल्य भाव के गुण प्रमुख हैं इसलिए लेखक ने इस संस्मरण का नाम कवि–वत्सला रखा है, जो उनके व्यक्तित्व को भी चरितार्थ करता है|

एक भारतीय आत्मा: एक चुनौती

सामान्यतः संस्मरण में स्मरणीय व्यक्ति लेखक के नजदीकी होते हैं| तभी लेखक अपने और उसके साथ व्यतीत क्षणों को रचनात्मक रूप देता है, पर यहाँ लेखक न तो माखनलाल चतुर्वेदी से व्यक्तिगत रूप से इतने परिचित थे और न ही उनके काव्य के प्रति लेखक का उतना आकर्षण रहा हो| पर फिर लेखक उनके व्यक्तित्व और कृतित्व के प्रति उनका सम्मान किस प्रकार बढ़ता गया, यह उनके लिए एक प्रीतिकर विस्मय का विषय था, पर क्यूँ था, इस प्रश्न को लेखक ऐसे ही छोड़ दें, ऐसा कैसे हो सकता था, उनके आलोचनात्मक स्वभाव ने उन्हें बाध्य किया की वह इसका कारण खोजे, यह संस्मरण उसी कारण के खोज का परिणाम है|

माखनलाल चतुर्वेदी के कविता से लेखक का पहली बार परिचय कारावास में हुआ था वह कविता थी- वह भी एक पुष्प की अभिलाषा से| लेखक इस छोटी सी कविता पढ़ चमत्कृत हो गए थे| कविता की सहजता, ओज और प्रवाहमयता एक ओर लेखक को आकृष्ट कर थी तो दूसरी ओर भाषा का अनगढ़पन, साथ ही कविता परिस्थिति के अनुकूल होने के कारण भी लेखक को गहरे तक प्रभावित किया तथा जेल से छूटने के बाद लेखक के मन में कई प्रश्न उठे| इसलिए यह आलोचनात्मक संस्मरण माखनलाल चतुर्वेदी के व्यक्तित्व तथा कृतित्व के मूल्यांकन का ही प्रयास है|

[1] वही, पृ-85

अज्ञेय को माखनलाल चतुर्वेदी की अनगढ भाषा खटकती है क्योंकि माखनलाल चतुर्वेदी अपने काव्य में छन्द, अलंकार के प्रति बहुत कम सचेत रहते थे, वे प्रयासों के द्वारा अपनाये गए शिल्पगत तत्त्वों को कम महत्त्व देते थे| इसलिए उनकी कविताओं में वो अनगढ़पण दिखाई देता है| लेखक के अनुसार चतुर्वेदी जी साहित्य की मूल में संवेदना थी| वह विषय-वस्तु को प्राथिमकता देते रहें, उनका मूल उद्देश्य भावों का सम्प्रेषण था| चतुर्वेदी जी के भाषा को अनगढ़ होने का कारण बताते हुए कहते हैं- "मेरी समझ में पर्याप्त कारण उन की भाषा का अटपटापन और अनगढ़पन प्रथमत: इस बात का सूचक है कि वह वस्तु को प्राथमिकता देते रहे, और यह आग्रह सर्वथा सही है| .....पर साथ ही उन्होंने प्रतिज्ञा को भी स्वीकार नहीं किया| यानी वह भाषा को एक जिवंत, प्रवाहमान और सतत परिवर्तनशील साधन के रूप में ही बरतते आये- ऐसे साधन के, जिस के बदलते रहने को उन्होंने स्वीकार भी किया और साथ ही प्रेरित भी| इसलिए उनकी भाषा अनगढ़ रही, अस्थिर रही, ठेठ शब्दों को भी उतनी ही सहजता से अपनाती रही जितनी से संस्कारी शब्दों को जो चाहे संस्कृत के हों चाहे फारसी के; पर इस सब के साथ सहज रही, कृत्रिम कभी नहीं हुई|"[1]

लेखक के अनुसार माखनलाल चतुर्वेदी ने हमेशा एक भारतीय अस्मिता को रुपायित किया है| उनका विखंडित व्यक्तित्व अपने समकालीनों के सामने एक आदर्श रखता है, एक चुनौती देता है| किसी भी देश, किसी भी समाज के लिए एक अखंड व्यक्तित्व बहुत बडी उपलब्धि होती है| स्वाधीन व्यक्ति वही होता है जिसका विखंडित व्यक्तित्व हो; विखंडित व्यक्तित्व का व्यक्ति स्वाधीन नहीं हो सकता है| "आजाद आदमी वही होता है जिस का व्यक्तित्व अखंड होता है: विखंडित व्यक्तित्व का व्यक्ति आजाद नहीं हो सकता"[2] इस विखंडित व्यक्तित्व से तात्पर्य यह है कि उनका राजनीति तथा साहित्य साधना के प्रति समर्पित होना| लेखक चतुर्वेदी की तुलना

[1] वही, पृ.93

[2] वही, पृ.96

भारतेंदु तथा महावीर प्रसाद द्विवेदी से करते हुए कहते हैं उनके अन्दर एक विशेष गुण यह भी था कि वह सख्य भाव से नव कवियों को प्रोत्साहित करते थे, जिस प्रकार भारतेंदु एवं द्विवेदी जी|उनकी स्नेह छाया में कई नए प्रतिभावान कवियों का विकास हुआ| लोग उन्हें सम्मान में 'दादा' कहते थे| यह संस्मरण कवि के कवित्व और व्यक्तित्व दोनों के सामर्थ्य की माप है|

कुल मिलाकर इस संस्मरण में लेखक ने उनके कृतित्व के माध्यम से उनके व्यक्तित्व को जाना है|

धरती के धनी

'धरती के धनी' संस्मरण में लेखक ने अपने और रेणु के बहुत भावात्मक रागसंबंधों को उद्घाटन किया है| दोनों में सघन और अनौपचारिक सम्बन्ध हैं| लेखक रेणु पर बहुत विश्वास करते थे परन्तु अंधविश्वास नहीं और दूसरों से भी यही अपेक्षा रखते थे| इसका उद्घाटन लेखक द्वारा एक प्रसंग के माध्यम से होता है जिसमें जब रेणु कहते हैं कि जहाँ अज्ञेय के हस्ताक्षर हैं वहाँ वे ऑख मूँद कर हस्ताक्षर कर देंगे तो अज्ञेय ने कहा कि ऐसे नहीं चलेगा| उन्हें पढकर हस्ताक्षर करना होगा| वे ऑख मूँद कर किए गए हस्ताक्षर को स्वीकार नहीं करेंगे| कई प्रसंगों के माध्यम से अज्ञेय और रेणु दोनों में कई समानताएँ उभरकर हमारे सामने आती हैं| दोनों ही क्रांतिकारी थे, जेल जा चुके थे| दोनों को ही पते बदलने की बीमारी थी| उम्र में रेणु अज्ञेय से दस साल छोटे थे पर फिर भी रेणु से उनके अनेक विचार मिलते थे| इतनी समानताओं के बावजूद दोनों में कई असामनताएँ भी थीं जैसे अज्ञेय अपने शरीर की देखभाल का विशेष प्रयास न करते हुए भी उसका ख्याल रखते थे पर वहीं रेणु अपने स्वास्थ्य के प्रति काफी हद तक लापरवाह थे| रेणु के स्वास्थ के प्रति लापरवाही का परिचय इस संस्मरण के पहली पंक्ति में ही मिलता है जब लेखक रेणु जी को उनसे अस्पताल में मिलने जाते हैं " अब भला पूछिए, ऐसे में कोई अस्पताल की खाट पर पड़ा रह सकता है?"[1] यहाँ रेणु चुनावी माहोल से स्वयं को रोक नहीं पा रहे हैं| लापरवाही की चरम

[1]वही, पृ.100

स्थिति तो तब हो जाती है जब वे कहते चुनाव के परिणाम आने दीजिए, एक बार मंत्रिमंडल बन जाए, फिर ऑपरेशन करवा लूँगा| रेणु हंसमुख स्वभाव के थे, हमेशा उत्तेजित, आशान्वित, उत्साह से भरे हुए| यही उत्साह उनमें उनके अंतिम दिनों में भी लेखक दिखाई देती है| लेखक के अनुसार रेणु उदास तभी होते थे जब वे कर्म में लिप्त होते थे,संघर्ष के समय नहीं| लेखक इस प्रकार के व्यक्तित्व के बारे में कहते हैं-" मैं जानता हूँ कि अच्छे कर्मठ कर्मी मानो काम की चुनौती के समय ही जागते हैं, अन्य समय वे ढीले-ढाले से निढाल भी पड़े रह सकते हैं, निरे पिनकची भी जान पड़ सकते हैं| पर काम की चुनौती की तपन हवा में आई नहीं कि वह झपटने को सन्नद्ध बाघ की तरह साध जाते हैं|"[1]

लेखक ने अपनी और रेणु से जुड़ी कई स्मृतियों को अपने इस संस्मरण में उजागर किया है| एक प्रसंग के माध्यम से पता चलता है कि रेणु और उनकी पत्नी को पशुओं से बहुत लगाव रहा है|

दूसरे स्मृति खंड में रेणु तथा अज्ञेय के घनिष्ठ आत्मियता को दिखाया गया है| लेखक को 'दिनमान' पत्रिका हेतु बिहार के सूखाग्रस्त क्षेत्रों में रिपोर्ट बनाने जाना है| वे रेणु को उन क्षेत्रों की अच्छी जानकारी तथा वहां की बोलचाल की भाषा का पर्याप्त ज्ञान होने के कारण साथ चलने को कहते हैं चूँकि रेणु के पास समय न रहने के बावजूद भी वो लेखक के इस प्रस्ताव को विनम्रता पूर्वक स्वीकार करते हैं| तीसरा खंड अज्ञेय और रेणु के भावात्मक करुण संबंधों को प्रस्तुत करता है| अज्ञेय रेणु के बड़े भाई की तरह है| अस्पताल का आखिरी भेंट अज्ञेय के मन विषाद की पीड़ा को उत्पत्ति करता है|

आगे बढ़ते हुए लेखक ने रेणु के रचनात्मक प्रक्रिया तथा साहित्यों के बारे में चर्चा की है| उनके अनुसार रेणु का 'मैला आँचल' तथा 'परती-परिकथा' उपन्यास साहित्य को नया रूप देता है| उपन्यास परम्परा की अलग धारा का विकास करता है| अज्ञेय प्रेमचन्द एवं रेणु की तुलना करते हुए कहते हैं कि रेणु परवर्ती हैं एक कदम आगे हैं| क्योंकि रेणु प्रेमचन्द की भाँति गाँव के आदर्श जीवन का चित्रण नहीं करते

[1] वही, पृ.101

हैं, जहाँ असंख्य बुराइयाँ है पर वे आरोपित हैं, जमींदार साहूकार पुलिस के अत्याचार के कारण हैं| दूसरी ओर रेणु गाँव की समस्त बुराई और गलाजत के बीच एक अखंड मानवीय विश्वास की लौ दिखाते हैं| वे न केवल ग्रामीण किशोर मन का चित्रण करते हैं एक नर्तकी के मनोजगत का अद्वितीय वृतांत प्रस्तुत करते हैं ऐसा वृतांत जो भारतीय साहित्य में बेजोड़ है| लेखक के शब्दों में- "प्रेमचंद का गाँव एक प्रच्छन्न आदर्श लिए हुए है .....तो एक अकेले रेणु के उपन्यासों में गाँवों की समस्त बुराई, कमीनगी और गलाजत के बीच एक अखंड मानवी विश्वास की चिनगारी सुलगती दिखती है|"[1]वे ग्रामीण जिंदगियों की कलात्मक सर्जना भर नहीं करते, उन्हें जिवंत रूप भी देते|

लेखक के अनुसार रेणु वस्तु को निर्मम आँखों से देखते हैं जिसके कारण उनके साहित्य में निर्मल कारुण्य का रस भी मिश्रित होता चला जाता है| उनके अधिकांश साहित्य कोसी नदी के क्षेत्र रहे है और कोसी नदी के बाढ़ की तरह ही रेणु की करुणा उनके रचनाओं में उमड़ती थी| लेखक ने रेणु को धरती का धनी कहने के कारण को स्पष्ट करते हुए कहते हैं- "रेणु की असली शक्ति धरती के साथ उन का वह संबंध है जिस के कारण मैंने उन्हें 'धरती का धनी' कहा है| धनी का अर्थ पति भी है: पति अर्थात वक्ता| सर्जक कलाकार कैसे प्रजापति का पद पाता है, उपन्यास की परती भूमि की उर्वरा शक्ति को अंत:सत्वा बना देता है, इस का श्रेष्ठ उदाहरण परती-परिकथा का आरम्भिक अंश है|"[2] अर्थात रेणु अपने साहित्य में गाँव का एकदम सजीव चित्रण करते है, कहीं भी कोई बनावट या कृत्रिमता आने नहीं देते हैं| इस संदर्भ में बच्चन सिंह भी कहते हैं- रेणु आदिम रस-गंधों के कथाकार हैं| 'गाँव की धुल-माटी','आँगन की धुप', बैलों की घंटियाँ, 'धान की झुकी हुई बालियाँ', 'गमकता चावल', 'गौने की साड़ी', कड़वा तेल और लठवा-सिन्दूर मिश्रित गंध, मेला-ठेला,

[1] वही, पृ.108

[2] वही,पृ.109

झमकता गीत, हँसी-ठिठोली, गुदगुदाती पीठ, खुशबूदार मुस्कान आदि के वर्णन में गाँव ही नहीं, पूरा अंचल उभर आता है|" [1]

समय सूर्य(रामधारी सिंह दिनकर)

दिनकर से संबंधित इस आलोचनात्मक संस्मरण में दिनकर के काव्य संवेदनओं पर विचार करते हुए दिनकर और मैथलीशरण गुप्त जी को राष्ट्रकवि का विरुद दिए जाने के औचित्य पर विचार किया गया है| दो भिन्न युग के दो भिन्न प्रकृति के कवि के एक ही विरुद से नवाजे जाने के कारण की पड़ताल इस आलोचनात्मक संस्मरण में की गई है|

अज्ञेय तथा दिनकर के स्वभाव में भिन्नता थी, अत: अंतरंगता न के बराबर थी, हाँ सौहार्द जरुर था| जब एक बार बातचीत के दौरान दिनकर जानना चाहते थे कि अज्ञेय के पास नए लेखकों का गुट कैसे बन जाता है तो अज्ञेय ने कहा कि वे नए रचनाकारों की रचनाएँ पढते हैं और उनके साथ मिल कर उनकी रचना पर परिश्रम करते हैं जिनमें प्रतिभा होते है उसे सामने लाने का यत्न करते हैं तो दिनकर का उत्तर था कि " अरे, उनकी रचनाओं के साथ कौन मगज मारे ! वह सब कूड़ा पढने लगें तो अपना लिखना ही बन्द हो जाय|"[2] इस वार्तालाप से दोनों के विचार भिन्नता का ज्ञान होता है| अज्ञेय का लिखना नए लेखकों को पढ़ने और उनके साथ मिल कर उनकी रचनाओं पर मेहनत करने से बन्द नहीं हुआ|

अज्ञेय दिनकर और राय कृष्णदास की तुलना करते हुए कहते हैं कि किस प्रकार राय कृष्णदास जीवन रसिक थे, लौकिक जीवन से रस की अंतिम बूँद तक निचोड़ते थे| साथ ही जीवन के प्रति एक मर्मज्ञ पारखी का निरासक्त भाव बनाए रखते थे| जबकि दिनकर उन्हीं सुखों में अपनी आसक्ति के पाश से बँध कर अंत में अपने आप को हारा हुआ पाते हैं| वे आगे कहते हैं कि हारे को हरिनाम| निश्चय ही उससे पहले

[1] वही, पृ.110

[2] वही, पृ.116

की सब रचनाओं से प्रौढतर कृति है, लेकिन लौकिक जीवन की आकांक्षाओं की कुंठा का जो प्रतिबिम्ब उसमें झलकता है वह यह भी सूचित करता है कि हरिनाम कवि के लिए छटपटाहट की एक दिशा ही रही, वहाँ तक वह पहुँच नहीं पाया, जिस कारण राष्ट्रकवि दिनकर 'रेणुका', 'हुंकार' 'रश्मिरथी' जैसी कविताओं पुनः नहीं लिख पाते हैं|

बीसवीं सदी का बाणभट्ट (आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी)

प्रस्तुत आलोचनात्मक संस्मरण में लेखक ने हजारीप्रसाद द्विवेदी को बीसवीं सदी का बाणभट्ट कहा है| इस संस्मरण में लेखक ने हजारीप्रसाद द्विवेदी के व्यक्तित्व को उजागर करते हुए उनके साहित्यिक योगदान से हमारा परिचय कराया है, लेखक का द्विवेदी के साथ एक सहज एवं आत्मीय सम्बन्ध है, जो लेखक को बहुत ही आकर्षित करता है| हजारी प्रसाद द्विवेदी का लेखक पर बहुत गहरा प्रभाव था| कुछ विद्वान् अज्ञेय को निबंध के क्षेत्र में हजारी प्रसाद द्विवेदी के अगली कड़ी के रूप में देखते हैं, विशेषकर ललित निबंध के क्षेत्र में| जिस प्रकार द्विवेदी जी अपने निबंधों के माध्यम से अपने पाठकों को एक ज्ञान का भण्डार प्रस्तुत करते हैं, उसी प्रकार के निबंध को भी देखा जा सकता है| इस प्रकार इस आलोचनात्मक से हजारी प्रसाद द्विवेदी के कृतित्व का लेखक के ऊपर क्या प्रभाव रहा, स्पष्ट लक्षित होता है|

कुल मिलाकर लेखक ने इस आलोचनात्मक संस्मरण में बड़े ही आत्मीय भाव से स्मरणीय व्यक्तियों के व्यक्तित्व के साथ-साथ साहित्यिक क्षेत्र में उनके उल्लेखनीय योगदान को उजागर किया है, साथ ही इस आलोचनात्मक संस्मरण में लेखक का भी व्यक्तित्व पर्याप्त मात्रा में उजागर हुआ है| चूँकि संस्मरण स्वरूप में बिखरे होते हैं परन्तु यह संस्मरण बहुत ही संगठित हैं| भाषा की दृष्टि से बहुत सहज-सरल का प्रवाह है| संबंधों में सहजता, आत्मीयता और रचनाकार का आलोचक गुण 'स्मृति-लेखा' के केंद्र में है|

उपसंहार

अज्ञेय मूलतः कवि हैं, परन्तु इसके साथ ही उनकी प्रकृति एक प्रबुद्ध एवं सर्जनशील चिन्तक की भी है| अज्ञेय का रचनात्मक व्यक्तित्व का परिचय केवल उनके कविताओं में ही नहीं बल्कि कहानियों, उपन्यासों, निबधों, यात्रा-संस्मरणों, अन्तःप्रक्रियाओं में भी व्यक्त हुआ| हिंदी जगत में अज्ञेय अपनी प्रखर बौद्धिकता, स्वातंत्र्य भावना, मुल्यानवेषण एवं सतत् गतिशील, संवेदनशील व्यक्तित्व के रूप में प्रसिद्ध हैं| अज्ञेय का कथेतर गद्य साहित्य, साहित्य की विधा को समृद्ध करने में अतुलनीय योगदान रहा है| चूँकि इस दिशा में अब तक बहुत कम शोध हुए हैं, इसलिए मैंने इस शोध प्रबंध में अज्ञेय के कथेतर गद्य साहित्य को विषय बनाया है|

प्रस्तुत शोध प्रबंध के प्रथम अध्याय 'कथा साहित्य तथा कथेतर गद्य साहित्य में अंतर्संबंध' पर दृष्टिपात करने पर हम पाएंगे कि कथा तथा कथेतर दोनों ही विधाएं काफी भिन्न है| उपन्यास एवं कहानी में जहाँ घटनाओं एवं प्रसंगों के उद्घाटन हेतु कल्पना का सहारा लिया जाता है, वहीं कथेतर गद्य विधाओं में स्वानुभूत सत्यों को प्रसंगों के माध्यम से प्रस्तुत किया जाता है| कल्पना का पुट इन गद्य विधाओं में बहुत कम होता है| उपन्यासों और कहानियों में जहाँ लेखक के लिए विषय-वस्तु को प्रस्तुत करने में कल्पना के योग का पर्याप्त अवसर होता है, वहीं निबंधों, संस्मरणों, रेखाचित्रों, आत्मकथा जैसे कथेतर गद्य विधाओं में लेखक के लिए विषयों के प्रतिपादन के समय यह न के बराबर होती है, जिस कारण कथेतर गद्य विधाओं में रोचकता की उत्पत्ति करना लेखक के लिए चुनौतीपूर्ण होता है| उपन्यास तथा कहानियों में हम लेखक द्वारा सृजित पात्रों के के द्वारा लेखक के विचार से वाकिफ़ होते हैं, वहीं कथेतर गद्य विधाओं में हम प्रत्यक्ष रूप से लेखक के विचारों से परिचित होते हैं अर्थात कथा साहित्यों में लेखक अपने जिन विचारों, मान्यताओं की स्थापना काल्पनिक कथानक, पात्रों के माध्यम से करता है वहीं कथेतर गद्य साहित्यों में लेखक अपनी मान्यताओं की स्थापना सीधे प्रत्यक्ष रूप से करता है| अतः यह कहा जा सकता है, दोनों विधाओं में पर्याप्त अंतर के बावजूद, विषय, उद्देश्य एक ही रहता है|

इस संदर्भ में यदि अज्ञेय के कथा और कथेतर साहित्य को मानदंड की कसौटी पर कसे तो हम यह पाते हैं कि अज्ञेय की दोनों गद्य विधाएं परस्पर सम्बंधित हैं| लेखक ने अपने कथा साहित्यों के माध्यम से अपने विचारों को निरुपित किया है|

उनके सम्पूर्ण साहित्य में चाहे कविता हो, उपन्यास हो, कहानी हो, निबंध हो, संस्मरण हो, या आलोचना हो सभी जगह काल, भाषा, व्यक्ति-स्वाधीनता, संस्कृति, इतिहास, राजनीतिक-सामाजिक, धार्मिक, जीवन और मृत्यु दर्शन आदि जैसे विषयों पर विचार किया गया है|

शोध प्रबंध के द्वितीय अध्याय 'अज्ञेय के निबंध साहित्य का आलोचनात्मक अध्ययन' में अज्ञेय के सम्पूर्ण निबंधों पर विचार किया गया है| अज्ञेय की रचनात्मक व्यक्तित्व को समझने हेतु इनके निबन्ध सबसे अधिक कारगर सिद्ध होते हैं| 'त्रिशंकु' से लेकर 'कहाँ है द्वारका' का अवलोकन करने पर हम पाएँगे कि लेखक प्रायः भाषा, साहित्य, संस्कृति, शाश्वत मूल्यों, नैतिकता, धर्म, राजनीति-सामाजिक पहलुओं के प्रश्नों से जूझते रहे हैं, बार-बार अपनी मान्यताओं का परिक्षण, पुनरीक्षण भी करते रहे हैं| उनके निबंधों में परंपरा और आधुनिकता के साथ परंपरा के प्रति प्रबुद्ध दृष्टिकोण का परिचय मिलता है| वे व्यक्ति, समाज और व्यवस्था के अंतर्संबंधों पर निरंतर विचार करते हैं| मूल्यों के प्रति, मनुष्य की गरिमा तथा उनके स्वाधीनता का आग्रह उनके समस्त निबंधों में देखने को मिलता है| लेखक केवल समस्याओं का निरूपण नहीं करते बल्कि उसके समाधान संबंधी विचारों को भी व्यक्त करते हैं|

इन निबंधों में ह्रदय और बुद्धि दोनों का अद्भुत सामंजस्य है| शिल्प की दृष्टि से सभी निबंध संग्रह अतुलनीय है चाहे ललित निबंध हो या आलोचनात्मक निबंध| भाषा के दृष्टिकोण से लेखक शब्द प्रयोग में अत्यंत सतर्क, संयत, तथा मितव्ययी प्रवृति के रहे हैं| देशज-विदेशज दोनों ही प्रकार के शब्दों का प्रयोग हुआ है, लालित्य निबंधों में शिल्प के चमत्कार को देखते ही बनता है| इस प्रकार "विचार एवं चिंतन प्रधान तथा आत्मव्यंजन एवं ललित दोनों ही प्रकार के निबंधों को मिला देने पर अज्ञेय का सजग, अनुभव समृद्ध और संवेदनशील व्यक्तित्व उभरकर सामने आता है| इसमें संदेह नहीं है कि 'अज्ञेय' हिंदी के सशक्त निबंधकार हैं| निबंध शिल्प को उन्होंने एक नया आयाम दिया है| उनके निबंध की जिज्ञासा वृति से सीधे जुड़े हुए हैं| इस वृति की चरम परिणिति जीवन की सार्थकता की उपलब्धि में हुई है| उनके निबंध इस

उपलब्धि के साक्षी है|" अतः लेखक ने अपने निबंधों में भाषा, शिल्प, शब्द प्रयोग की सजगता, परंपरा, आधुनिकता, यथार्थ, सम्प्रेषण, व्यक्ति, समाज, व्यक्ति-स्वाधीनता आदि प्रासंगिक विषयों पर बारम्बार विचार किया है| हिंदी निबंध साहित्य की प्रचलित रुढियों को तोड़कर निबंध को हलकेपन से मुक्त किया|

तृतीय अध्याय 'अज्ञेय के यात्रा-संस्मरण: एक विश्लेषण' में अज्ञेय के दो यात्रा-संस्मरणों- 'अरे यायावर, रहेगा याद!' (1953) और 'एक बूँद सहसा उछली'(1960) पर विचार किया गया है| पहले संस्मरण की पट-भूमि स्वदेश हैं| दूसरे में भूमि विदेशी है, पर दृष्टि एक शालीन बल के साथ स्वदेशी है| 'अरे यायावर, रहेगा याद!' में सर्जनात्मक चमक है, पर संघटित कलाकृति के रूप में 'एक बूँद सहसा उछली' को विशिष्ट उपलब्धि माना जाना सकता है| पहले यात्रा संस्मरण में वर्णन और विवरण अधिक हैं, दूसरे में एक संवेदनशील और प्रबुद्ध मन का चिंतन उजागर हुआ है, दोनों कृतियों में इतना अंतर का एक कारण यह हो सकता है कि 'अरे यायावर, रहेगा याद! के कुछ वृत्त शायद काफी पहले के लिखे हुए हों, और उसका प्रकाशन अपेक्षाकृत बाद में हुआ है| 'अरे यायावर, रहेगा याद!' में जहाँ लेखक का प्रकृति के प्रति सम्मोहन का घनाभाव है वहीँ 'एक बूँद सहसा उछली' में प्रकृति के अपेक्षा संस्कृति के प्रति तुलनात्मक दृष्टिकोण का संकेत मिलता है|

'एक बूँद सहसा उछली' में लेखक केवल यात्रा के दौरान अनुभूत प्राकृतिक एवं भौगोलिक सौन्दर्य के अनुभवों को ही नहीं साझा करता है बल्कि उस स्थान-विशेष के तह में जाकर वहां की संस्कृति, राजनीतिक, धार्मिक, ऐतिहासिक परिवेश को भी साझा करता है, जो कि अतुलनीय है| यायावर जब यूरोप जाता है तो अपने साथ वह एक चीज ले कर जाता है, वह है भारतीय सांस्कृतिक, सामाजिक दृष्टिकोण और इसी दृष्टिकोण से वह यूरोप का वर्णन करता है, जिससे उनके इस पुस्तक में सर्वत्र तुलनात्मक दृष्टिकोण का परिचय मिलता है|

चतुर्थ अध्याय 'भवन्ती, अंतरा और शाश्वती का वैचारिक अध्ययन' में लेखक के अमूल्य विचार आद्यंत है, जो पाठकों के लिए अज्ञेय की रचनाओं को समझने हेतु

अच्छा माध्यम है| इन पुस्तकों को अन्तःप्रक्रिया के नाम से अभिहित किया गया है| यह लेखक के रचना यात्रा का लॉग-बुक है| इन पुस्तकों में लेखक ने उन यंत्रणा भरी सृजन प्रक्रिया का उद्घाटन किया है, जो उन्हें अंत तक उन्मथित करती रही| इस संदर्भ में कृष्णदत्त पालिवाल की यह उक्ति बिलकुल सटीक है-"अपने रचनानुभवों-संघर्षों-द्वंदों-तनावों-विरोधाभासों-अंतर्विरोधों के सच को अज्ञेय ने इन 'अन्तःप्रक्रियाओं' में उजागर किए है| इन अन्तःप्रक्रियाओं के 'क्लू' हमें अज्ञेय के कवि-मन की रचना को समझने का एक पुष्ट आधार देते हैं| यह कहना कि ये आधार ही उन्हें समझने का अंतिम सूत्र देते हैं|"

लेखक ने साहित्य सम्बन्धी तत्कालीन समस्याओं पर विचार किया है, वे इन समस्याओं के केवल द्रष्टा नहीं रहे हैं, बल्कि ये समस्याएं उनके जीवन से भी उतनी जुड़ी हुई है| अज्ञेय ने अपनी इन रचना यात्राओं में जीवन, समाज, साहित्य, भाषा, आदि के बारे में निरंतर चिंतन से हिंदी साहित्य को समृद्ध किया है| नैतिकता, ईश्वर, दिक्-काल, धरम, स्वाधीनता, मूल्य, परंपरा, आधुनिकता, भारतीयता, यथार्थ, मिथक तथा छंद आदि अनेक विषयों से संबंधित गंभीर चिंतन मनन इन अन्तःप्रक्रियाओं में संकलित है| लेखक धर्म को बंधनों से मुक्तिकारक, शिक्षा को स्वतंत्र व्यक्तित्व के निर्माता, व्यक्ति स्वतंत्रता को समाजिक स्वतंत्रता से सम्बद्ध रूप में देखता है| इन तीनों पुस्तकों के विषय में निर्मल वर्मा कहते हैं-"इन तीनों पुस्तकों में अज्ञेय ने विगत जीवन में फैले चिन्तन संसार से कुछ अंश,विचार खंड, सूक्तियां और यात्राओं के इम्प्रेशन जमा किए हैं|"

पंचम अध्याय **"'स्मृति – लेखा' : एक आलोचनात्मक अध्ययन"** में स्मृति लेखा के विषय-वस्तु पर विचार किया गया है| यह एक आलोचनात्मक संस्मरण है क्योंकि इसमें लेखक का स्मरणीय व्यक्ति के व्यक्तित्व तथा कृतित्व के प्रति आलोचकीय दृष्टिकोण का परिचय मिलता है| प्रस्तुत संस्मरण संग्रह में 12 संस्मरण हैं जो सरोजिनी नायडू, मैथिलीशरणगुप्त, रायकृष्णदास, प्रेमचंद, सूर्यकान्त त्रिपाठी, 'निराला' सुमित्रानंदन पंथ, होमवती देवी, माखनलाल चतुर्वेदी, फणीश्वरनाथ

'रेण', रामधारी सिंह दिनकर, हजारीप्रसाद द्विवेदी, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' से संबंधित हैं| प्रस्तुत संस्मरणों में लेखक का जहां रेणु के प्रति स्नेह का निदर्शन जितना भावुक और आत्मीय भाव से हुआ है, वहीं हजारीप्रसाद द्विवेदी के प्रति आदरणीय भाव से| मैथिलीशरण गुप्त उनके प्रेरणा स्रोत रहे हैं| इन संस्मरणों में उन्होंने न केवल रचनाकारों के सम्पूर्ण व्यक्तित्व को उजागर किया है और बल्कि उनके समस्त रचनाओं को समेटा है| जिन रचनाओं ने उन्हें प्रभावित किया है उन्हीं रचनाओं का वे उल्लेख करते हैं| चरितनायकों के व्यक्तित्व के भी उन्हीं अंशों को दिखाते हैं जिनसे उनका प्रत्यक्ष सम्बन्ध रहा है| कुसल मिलकर यह संस्मरण आलोचनात्मक संस्मरण है|

कुल मिलाकर लेखक ने इस आलोचनात्मक संस्मरण में बड़े ही आत्मीय भाव से स्मरणीय व्यक्तियों के व्यक्तित्व के साथ-साथ साहित्यिक क्षेत्र में उनके उल्लेखनीय योगदान को उजागर किया है, साथ ही इस आलोचनात्मक संस्मरण में लेखक का भी व्यक्तित्व पर्याप्त मात्रा में उजागर हुआ है| चूँकि संस्मरण स्वरूप में बिखरे होते हैं परन्तु यह संस्मरण बहुत ही संगठित हैं| भाषा की दृष्टि से बहुत सहज-सरल का प्रवाह है| संबंधों में सहजता, आत्मीयता और रचनाकार का आलोचक गुण 'स्मृति-लेखा' के केंद्र में है|

अज्ञेय के अपने कथेतर गद्य साहित्यों में सांस्कृतिक-सामाजिक-राजनीतिक, नैतिक, धार्मिक शाश्वत मूल्य, मिथक, प्रतीक, भाषा आदि संबंधी विविध समस्याओं को उजागर किया है, जो कि इनके समस्त रचनाओं का केंद्र बिंदु रहा है| इस शोध प्रबंध में मैंने अज्ञेय के कथेतर गद्य साहित्य में व्यक्त इन समस्याओं का सूक्ष्म तथा गहन अध्ययन करने का विनम्र प्रयास किया है|

संदर्भ-ग्रन्थ सूची

आधार ग्रन्थ

अज्ञेय, *त्रिशंकु*, सरस्वती प्रेस, बनारस, 1945

अज्ञेय, *सबरंग और कुछ राग,*

अज्ञेय, *आत्मेपद*,भारतीय विद्यापीठ, काशी, 1960

अज्ञेय, *हिदी साहित्य; एक आधुनिक परिदृश्य,* अभिनव भारती ग्रंथमाला, कोलकता,1966

अज्ञेय, *आलवाल*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1971

अज्ञेय, *लिखि कागद कोरे,* राजपाल एंड संस, दिल्ली, 1972

अज्ञेय, *अद्यतन*, सरस्वती विहार, दिल्ली, 1977

अज्ञेय, *जोग लिखी,* राजपाल एंड संस, दिल्ली, 1977

अज्ञेय, *संवत्सर,* नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1978

अज्ञेय, *स्रोत और सेतु,*राजपाल एंड संस, दिल्ली, 1978

अज्ञेय, *व्यक्ति और व्यवस्था,*नेशनल पब्लिशिंग हाउस,दिल्ली, 1979

अज्ञेय, *अपरोक्ष*, सरस्वती विहार,दिल्ली,1979

अज्ञेय, *युग संधियों पर*, सरस्वती विहार, दिल्ली,1981

अज्ञेय, *धार और किनारे*, सरस्वती विहार, दिल्ली,1982

अज्ञेय, *स्मृति लेखा*, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली,1982

अज्ञेय, *कहाँ हैं द्वारका*, राजपाल एंड सन्स, दिल्ली,1982

अज्ञेय, *छाया का जंगल*,सरस्वती विहार, दिल्ली,1984

अज्ञेय, *आत्मपरक,* नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली,1983

अज्ञेय, *केंद्र और परिधि,* नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली,1984

अज्ञेय, *भवंती,* राजपाल एंड सन्स, दिल्ली,1972

अज्ञेय, *अंतरा,* राजपाल एंड सन्स, दिल्ली,1975

अज्ञेय, *शाश्वती,* राजपाल एंड सन्स, दिल्ली,1979

अज्ञेय, *अरे यायावर रहेगा याद*,सरस्वती प्रेस बनारस,1953

अज्ञेय, *एक बूँद सहसा उछली,* भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली,1960

सहायक ग्रन्थ

अज्ञेय, *छाया का जंगल*,सरस्वती विहार, दिल्ली,1984

अज्ञेय(सं.), *तार सप्तक*,भारतीय ज्ञानपीठ,दिल्ली,ग्यारहवां संस्करण,2014

अज्ञेय(सं.), *दूसरा सप्तक*,भारतीय ज्ञानपीठ,दिल्ली,चौथा संस्करण,2012

अज्ञेय(सं.), *तीसरा सप्तक*,भारतीय ज्ञानपीठ,दिल्ली,दसवां संस्करण, 2013

अज्ञेय(सं.), *चौथा सप्तक*,सरस्वती विहार,दिल्ली, 1979

अज्ञेय, *शेखर: एक जीवनी, खंड-1,* सरसवती प्रेस,बनारस,1941

अज्ञेय, *शेखर: एक जीवनी, खंड-2*, सरसवती प्रेस,बनारस,1944

अज्ञेय, *नदी के द्वीप*, सरसवती प्रेस,बनारस,1951

अज्ञेय, *अपने अपने अजनबी*,भारतीय ज्ञानपीठ,काशी,1961

अज्ञेय, *सम्पूर्ण कहानियां(दो खण्डों में),*राजपाल एंड संस, दिल्ली,1975

आचार्य,नंदकिशोर, *अज्ञेय संचयिता*,राजकमल प्रकाशन,दिल्ली,2001

ऋषिकल्प,रमेश, *अज्ञेय का चिंतन(नई सोंच की शुरुआत)*, मेघा बुक्स दिल्ली,2011

कृष्ण,प्रणय, *अज्ञेय का काव्य और प्रेम और मृत्यु*, आधार प्रकाशन, हरियाणा,2005

खेतान,ज्वाला प्रसाद, *अज्ञेय:शिखर अनुभूतियाँ*,विश्वविद्यालय प्रकाशन,वाराणसी,1999

चतुर्वेदीबनारसी दास ,, *संस्मरण* ,भारतीय ज्ञानपीठ1958,द्वितीय संस्करण,वाराणसी,

चतुर्वेदी,रामस्वरूप *अज्ञेय और आधुनिक रचना की समस्या,* भारतीय साहित्य प्रकाशन, मेरठ, 1968 ,पृ-105

चतुर्वेदी,रामस्वरूप, *अज्ञेय और आधुनिक रचना की समस्या*,भारतीय ज्ञानपीठ, 2011

जैनेन्द्र , *कहानी अनुभव और शिल्प*1967.सा.प्र ,दिल्ली ,पूर्वोदय प्रकाशन ,

जैन,निर्मला(सं.), *हिंदी साहित्य,का बृहत इतिहास*,नागरी प्रचारणी सभा,बनारस, 1984

तिवारी, रामचन्द्र, *हिंदी का गद्य साहित्य*,विश्विद्यालय प्रकाशन,वाराणशी,एकादश संस्करण, 2016

थानवी, ओम, *अपने अपने अज्ञेय भाग-1,*वाणी प्रकाशन, दिल्ली,2011

थानवी,ओम, *अपने अपने अज्ञेय भाग-2 ,*वाणी प्रकाशन, दिल्ली,2011

नगेन्द्र(सं.), *भारतीय साहित्य का समेकित इतिहास*, हिंदी माध्यम कार्यन्वय निदेशालय, दिल्ली विश्विद्यालय, तीसरा पुनर्मुद्रण,2013

पाण्डेय,राजेंद्र प्रसाद, *अज्ञेय की आलोचना दृष्टि,* सामयिक प्रकाशन,दिल्ली,2011

पालीवाल,कृष्णदत्त, *आलोचक अज्ञेय की उपस्थिति,*वाणी प्रकाशन,दिल्ली,2011

पालीवाल,कृष्णदत्त,अज्ञेय रचनावली खंड-9 (डायरी-अन्तःप्रक्रियाएं),भारतीय ज्ञानपीठ,नई दिल्ली,2012

बांदिवडेकर, चंद्रकांत, *कथाकार अज्ञेय,* हरियाणा साहित्य अकादमी,चंडीगढ़

मिश्र,विद्यानिवास, *अज्ञेय:वन का छंद,*वाणी प्रकाशन दिल्ली, 2008

राय, गोपाल, *अज्ञेय और उनका कथा साहित्य,*वाणी प्रकाशन,नई दिल्ली,2010

राय,गोपाल*, हिंदी कहानी का इतिहास 1900-1950*,राजकमल प्रकाशन,2011

लक्ष्मीनारायण लाल ,*हिंदी कहानियों की शिल्प* ,*विधि का विकास*-साहित्य भवन, इलाहाबाद1960 ,

वर्मा, निर्मल, *कला का जोखिम*,राजकमल प्रकाशन,दिल्ली,तीसरा संस्करण,2001

वर्मा ,रामचंद्र ,(.सं)*हिंदी शब्द सागर,* नागरी प्रचारिणी सभा67-पृ ,1929 ,काशी ,

शरण,शंकर, *अज्ञेय की इतिहास दृष्टि*,यश पब्लिकेशंस,दिल्ली,2015

सिंह नामवर, *हिंदी का गद्यपर्व*, राजकमल प्रकाशन,नई दिल्ली,2010

सिंह,कृष्णा,*अज्ञेय:काव्य-रचना का वैशिष्ट्य*,बिहार हिंदी ग्रन्थ अकादमी,पटना,2000